समरथ

मई-जून 2014 ◆ नई दिल्ली

4 अप्रैल 1928—28 मई 2014

नाहि तो जनम नसाई

हर मामले में अभूतपूर्व इस चुनाव का दौर-दौरा हर सर पर चढ़कर बोला। पहली बार इतने खुले तौर पर कारपोरेट घरानों ने चुनाव-चुनाव खेला और मीडिया की चहुंदिश और भरपूर मदद ली। अपना मनचाहा जनादेश हासिल करवाया। हिंदुस्तान के लोकतंत्र की राजनीतिक प्रक्रिया का आधार अब सिर्फ 'बहुसंख्यक आबादी' होगी यह उद्घोषणा भी पहली बार ही हुई।

मज़बूत सरकार मतलब कमज़ोर जनता, मतलब कमज़ोर जन-भागीदारी, मतलब अधिकाधिक केंद्रीकरण। एक अत्याधिक केंद्रीकृत व्यवस्था किसी भी तरह अलग-अलग सामाजी, सांस्कृतिक, आर्थिक तेवर वाली जनता की अपेक्षाओं को स्वर नहीं दे सकती।

इस चुनाव और चुनाव के परिणामों ने देश की प्रगतिशील ताक़तों, देश की बहुलता पर भरोसा रखने वालों को करारा झटका दिया है।

इस बीच दुनिया भर में अन्याय के खिलाफ खड़े होने वालों को संबल देने वाले एक और नाम ने हमारे बीच से विदा लिया। अफ्रीकी अमेरिकी कवयित्री 'माया एंजलो' का निधन एक गहरी क्षति है। प्रस्तुत है माया एंजलो की कविता का 'खुर्शीद' द्वारा किया अनुवाद।

वह वापस चल दिए घर

वह वापस चल दिए घर
मेरे बारे अपनी बीवियों को
कहा मुझ जैसी औरत
न देखी इस से पहले
तब भी
वह वापस चल दिए घर

कहा मेरा जो धर है
चमकता आईना है
मेरे अल्फाज़ में भी
कोई तल्ख़ी नहीं है
मुअम्मा जैसी हूं मैं
वह वापस चल दिए घर

ज़बां पर हर पुरुष के
मेरी तारीफ़ ही थी
मेरी मुस्कान की भी
ज़ेहन की और नितम्ब की
गुज़ारी रात मुझ संग
कभी कुछ और रातें
मगर...

माया एंजेलो की कविता 'दे वेंट होम'
अनुवाद : खुर्शीद अनवर

प्रमुख के नाम पत्र

■ सिएथल

''प्रमुख के नाम पत्र'' कई साल पहले लिखा गया था लेकिन आज यह पत्र पहले से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण हो रहा है। इसके लेखक सिएथल, रेड इंडियन आदिवासी थे। दुनियाभर में शासन आज जो कर रहे हैं उसकी शुरुआत शताब्दियों पहले अमरीका में आदिवासियों की लूट और नरसंहार के साथ शुरू हुई।

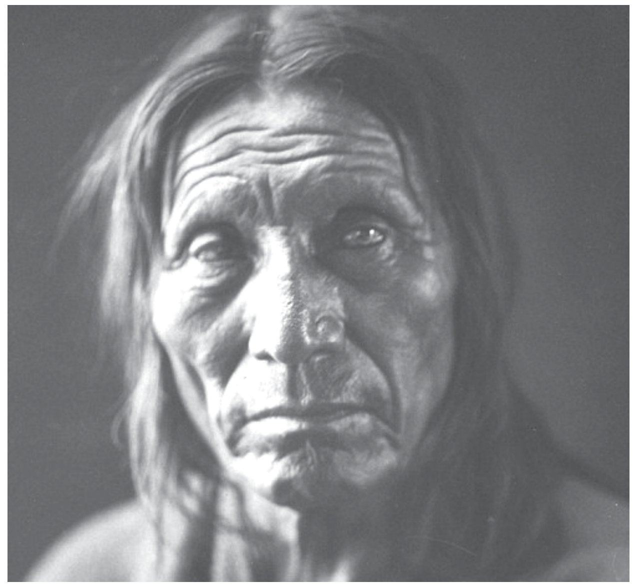

गोरे राज्य के प्रमुख ने कहलवाया है-
कि वे हमारी ज़मीन खरीदना चाहते हैं।
उनके सरदार ने दोस्ती और भाईचारे का संदेश भी भिजवाया है।
यह उनका बड़प्पन है।
हम जानते हैं कि उन्हें हमारी दोस्ती की ज़रूरत नहीं;
लेकिन उनके प्रस्ताव पर हम विचार करेंगे,
क्योंकि, हम यह भी जानते हैं कि यदि ज़मीन नहीं बेची
तो तोपों सहित आ सकते हैं ये गोरे लोग।
किस तरह तुम बेच या खरीद सकते हो आकाश को?
या पृथ्वी के स्नेह को?
ये बात हमें समझ नहीं आती।
जब हवा की ताज़गी।
और पानी की स्फूर्ति
हमारी मिल्कियत नहीं;
तो कैसे बेच सकते हो उनको?
इस ज़मीन का कण-कण हमें पूज्य है।
पेड़ों का एक-एक पत्ता, हरेक रेतीला तट,
शाम के कोहरे से ढका हुआ जंगल,
सपाट मैदान और भौरों का गुंजन,
ये सभी पवित्र हैं, पूज्य हैं।
हम आदिवासियों की यादों और जीवन से बंधे हैं।
ये पेड़ अपनी रगों में
हमारी अतीत की यादें संजोए हुए हैं।
गोरे भूल जाते हैं मरने के बाद अपनी जन्मभूमि
लेकिन हम नहीं भूलते अपनी मिट्टी मरने पर भी।
यहां के सुगंधित फूल हमारे भाई-बहन हैं।
ये हिरण, ये घोड़े, ये विशाल पक्षी-
सब हमारे भाई हैं।
पहाड़ों की चोटियां, मैदानों की हरियाली,
घोड़े और सवार के शरीर का पसीना
सब एक ही परिवार का हिस्सा है।
इसलिए, जब वाशिंगटन का बड़ा सरदार,
जान से भी प्यारी हमारी ज़मीन मांगता है-
तो वो बहुत कुछ मांग लेता है।
बड़े सरदार ने कहलवाया है-
वो कुछ ज़मीन हमारे लिए अलग रखेगा,
जहां हम आराम से रह सकें।
सरदार यह भी कहता है-
कि वे हमारे पिता हैं और हम उसकी संतान।
हम तुम्हारे प्रस्ताव पर विचार करेंगे,
लेकिन ये काम हमारे लिए आसान नहीं।
क्योंकि ज़मीन हमारे लिए पवित्र है, पूज्य है।
नदियों और झरनों में बहता निर्मल जल,
केवल जल नहीं-हमारे पूर्वजों का लहू है।
यदि हम तुम्हें ज़मीन बेचते हैं
तो अपनी सन्तान को बताना
कि ये भूमि पूज्य है।
और कहना
कि झील में झलकती हरेक परछाई में छिपी है
आदिवासियों के जीवन की यादें और गाथाएं।
पानी के कल-कल में सुनाई देती हैं हमारे पूर्वजों की आवाज़,

नदियां हमारी दोस्त हैं, प्यास बुझाती हैं;
इनकी लहरों पर खेलती हैं हमारी छोटी नावें
और मिटती है हमारे बच्चों की भूख और प्यास।
इसलिए यदि हम तुम्हें ज़मीन बेचते हैं
तो तुम उसे वही प्यार और स्नेह देना
जो तुम अपने किसी प्रियजन को देते हो।
गोरों को आगे बढ़ता देख
हम आदिवासी हमेशा पीछे हटे हैं।
जैसे सूर्य के उदय होते ही
भाग जाता है पर्वतों से कोहरा।
यहीं बिखरी है हमारे पुरखों की राख,
और ये पेड़, ये पर्वत, और धरती का ये भाग;
पवित्र है इन्हीं पर टिकी है
हमारे पूर्वजों की समाधियां।
हम जानते हैं कि गोरे हमारे तौर तरीकों को नहीं समझते,
उनके लिए सभी ज़मीन एक जैसी है।
नहीं लगाव किसी भी ज़मीन के टुकड़े के साथ-
वो अजनबी की तरह अंधेरे में आता है
और ले जाता है वो सब, जो उसे चाहिए।
ज़मीन उसकी दोस्त नहीं-दुश्मन है।
जिसे जीत कर वो आगे बढ़ जाता है
और छोड़ जाता है पीछे पिता की समाधि-
इसकी भी उसे कोई परवाह नहीं।
अपने बच्चों से छीन लेता है धरती
इसकी भी उसे परवाह नहीं।
मां समान धरती और पिता समान आकाश,
उसके लिए बेजान बाज़ारू चीज़े हैं,
जिसे वो भेड़ों या चमकते मोतियों की तरह
खरीदता-लूटता और बेच देता है।
एक दिन आएगा जब उसकी विशाल भूख सारी धरती
निगल लेगी-
और रह जाएगी सिर्फ रेगिस्तान की बालू।......
मैं समझ नहीं पाया,
शायद हमारे जीने का ढंग तुमसे अलग है।
तुम्हारे शहरों के नज़ारों को देख,
आंखों में चुभन होती है!
लेकिन शायद हम आदिवासी जंगली हैं, असभ्य हैं:
जो तुम्हारी बातें नहीं समझ पाए।
तुम्हारे शहरों में कोई गली शांत नहीं,
कोई ऐसी जगह नहीं जहां सुनाई दे
वसंत में कोपलों का खिलना,
या किसी कीट के पंखों की सरसराहट।
लेकिन मैं तो असभ्य हूं।
और इसलिए शायद नहीं समझता तुम्हारी बातें।
यहां का शोर कानों को चोट पहुंचाता है।
ऐसे जीवन का क्या अर्थ जहां इन्सान नहीं सुन सकता
एक जानवर के अकेलेपन का रुदन?
या रात को किसी पोखर में मेंढकों का वाद-विवाद।
मैं एक आदिवासी हूं इसलिए तुम्हारी बातें नहीं समझता।
हमें तो सुहाती हैं हवा की वो मीठी धुन
जो तालाब की सतह को छूती हुई निकल जाती है
और बारिश में मिट्टी की भीनी-भीनी खूशबू,
या फिर पेड़ों की महक से भरी हुई बयार।
हमारे लिए हवा बहुत कीमती है।
क्योंकि सभी-पशु, पक्षी, तरू, मानव-उसी हवा में सांस लेते हैं,
सब उसी हवा को बांटते हैं।
लेकिन गोरे लोग इस हवा की परवाह नहीं करते
वैसे ही जैसे मृत्यु शैय्या पर पड़ा आदमी,
सुन्न हो जाता है दुर्गंध के प्रति।
फिर भी अगर हम तुम्हें अपनी ज़मीन बेचते हैं
तो ज़रूर याद रखना कि ये हवा हमारे लिए बहुत कीमती
है, यह मत भूलना कि हवा जीवों का पोषण करती है,
और सबके साथ अपनी आत्मा बांटती है
इसी हवा में हमारे पुरखों ने ली अपनी पहली और
आखिरी सांस।
यही हवा देगी हमारे बच्चों को जीवनदान।
अगर हम तुम्हें अपनी ज़मीन बेच देते हैं
तो इसे अलग रखना। पवित्र रखना।
जहां तुम गोरे भी कर सको सुगंधित बयार का अनुभव।
ठीक है, तुम्हारे प्रस्ताव पर विचार करेंगे।
लेकिन एक शर्त है मेरी-
इस धरती पर बसने वाले पशुओं को समझोगे तुम अपना बंधु।
मैं जंगली हूं और शायद नहीं जानता कोई और जीने का तरीका।
मैंने मैदानों पर हज़ारों भैंसों के सड़े-गले शरीर देखे हैं,
जिन्हें गोरों ने बेवजह चलती गाड़ी से मार दिया था।
मैं सभ्य नहीं और नहीं समझ पाता-
कि कैसे धुआं उड़ाती बेजान लोहे की गाड़ी
उस पशु की ज़िंदगी से ज़्यादा जरूरी है।
पशुओं के बिना मनुष्य क्या रह सकता है?
अगर पशु न रहे,
तो मनुष्य भी
अकेलेपन की पीड़ा से खत्म हो जाएगा।
और वैसे भी, जो पशुओं के साथ होगा।
वही मनुष्य भी भोगेगा एक दिन।
आखिर, सभी कुछ तो जुड़ा है एक दूसरे के साथ।
अपने बच्चों को जरूर सिखाना
कि जिस ज़मीन पर वो चलते हैं
वो हमारे पुरखों की राख से बनी है।

उस ज़मीन का आदर करना सीखें।
अपने बच्चों को यह भी बताना
कि ये मिट्टी हमारे पुरखों की गाथाओं से समृद्ध है;
कि धरती हमारी मां है-
यह हमने अपने बच्चों को बताया और तुम भी यही बताना।
इंसान ने नहीं बुना जीवन का ताना बाना-
वो तो सिर्फ उसमें एक तिनका है।
उसके साथ वही होगा जो वो करेगा ताने-बाने के साथ।
हम तुम्हारे प्रस्ताव पर विचार करेंगे
कि उन आरक्षित स्थानों में चले जाएं,
जिसे तुमने हमारे लोगों के लिए अलग रखा है।
हम अलग रहेंगे और शांति से रहेंगे।
इसका महत्व नहीं कि कहां बिताते हैं अपने शेष दिन।
हमारे बच्चों ने हमारी पराजय को देखा है,
हमारे योद्धाओं ने लज्जा के कड़वे घूंट पिये हैं।
पराजय ने उन्हें उदासीन बना दिया है-
आलस्य को शराब में डुबोते हैं और खत्म करते हैं वे
अपना शरीर।
अब कुछ फरक नहीं पड़ता कि कहां बिताते हैं हम बाकी के दिन
वैसे भी हम गिनती में ज़्यादा नहीं।
चंद घंटे, कुछ और साल और फिर
उन महान कबीलों की कोई संतान शेष न रहेगी।
जो कभी बेधड़क इस धरती पर घूमते थे।
और अब छोटी टुकड़ियों में भटकते हैं
घने जंगलों के बीच
कौन शोक मनायेगा उनके लिए?-
जो उतने ही ताकतवर और आशावादी थे
जितने आज तुम हो।
पर क्यों करूं मैं शोक अपने कबीले के अंत का?
आखिर कबीला है क्या-लोगों का एक समूह-
लोग आते हैं, चले जाते हैं;
जैसे सागर की लहरें।
ये गोरे लोग भी
बच नहीं सकते उस सांझी नियति से जो सबकी एक है।
शायद इसीलिए हमारा रिश्ता बंधुओं का ही है-
पर यह तो आने वाला समय ही बताएगा।
एक बात हम जानते हैं-हम सबका भगवान एक है।
गोरे लोग भी शायद एक दिन ये बात जान जाएंगे।
क्या तुम सोचते हो कि वो सिर्फ तुम्हारी मिल्कियत है?-
हमारी ज़मीन की तरह? जो तुम ले लोगे हमसे एक दिन?
नहीं ये मुमकिन नहीं।
क्योंकि वो हम दोनों को एक नज़र से देखता है।
उसके लिए यह धरती अमूल्य है।
और इस वसुंधरा को हानि पहुंचाना
उसके रचयिता का तिरस्कार होगा।
एक दिन गोरे लोगों का भी अंत आएगा,
शायद और जातियों से भी पहले।
अपने वातावरण को यदि दूषित करोगे,
तो देखना, किसी रात
तुम्हारा दम उसी गंदगी में घुट जाएगा।
पर अपने विनाश में भी तुम चमकोगे,
उस भगवान के दिए हुए तेज से,
जो तुम्हें धरती पर लाया,
और किसी विशेष उद्देश्य से
धरती का, और आदिवासियों का शासक बनाया।
यह नियति हमारे लिए एक रहस्य बन गई है-
क्योंकि जब भैंसों का वध होता है,
जंगली घोड़ों को पालतू बनाया जाता है,
जंगल के हर कोने में घुस जाती है इंसानी भीड़ की गंध,
और पहाड़ों का सुंदर दृश्य ढक जाता है
टेलीफोन के तारों से-
तब नियति को हम समझ नहीं पाते।
कहां गयी हरियाली? कहां गए विशाल पक्षी?
कहां गए दौड़ते घोड़े, वो शिकार का खेल?
जीने का तो अब अंत आ गया है ,
और शुरू हो गयी है ज़िंदा भर रहने की कोशिश।
ज़मीन बेचने के प्रस्ताव पर हम विचार करेंगे,
तब शायद-अपनी मर्ज़ी से,
तुम्हारी दी गयी ज़मीन पर काट सकें आखिरी दिन।
जब धरती पर से अंतिम आदिवासी भी मिट जाएगा,
तब ये समुद्र तट और बीहड़ वन,
मेरे लोगों की आत्मा संजो कर रखेंगे।
मेरे लोग इस धरती को उतना ही प्यार करते हैं,
जितना मां की धड़कन को एक नवजात शिशु।
इसलिए अगर हम तुम्हें ज़मीन बेचते हैं
तो वैसे ही प्यार करना उसे, जैसे हमने किया।
वैसे ही संवारना, जैसे हमने संवारा।
अपनी पूरी ताकत, दिलो दिमाग से
संभालकर रखना इसे अपने बच्चों के लिए।
और प्यार करना उतना...
जितना परम् पिता हमसे करता है।
एक बात हम जानते हैं-
हम सबका भगवान एक है-
और ये भूमि उसे बहुत प्यारी है
गोरे लोग भी बच नहीं सकते
उस नियति से-जो सबकी एक है।
अंततः शायद हम बंधु हैं।... यह समय ही बताएगा।

अखिल भारतीयता का पुनराविष्कार

■ प्रभु जोशी

भारत के एक नवस्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जन्म लेने के कुछ समय पूर्व भारत में उन लोगों के दरम्यान एक बहस छिड़ी थी, जो खुद को बीसवीं सदी की उदारता और समावेशिता के विचार को लोकतांत्रिकता के ढांचे में प्राथमिक मानते थे। वह समूची बहस इस बिंदु पर केंद्रित थी कि भारत को एक राष्ट्र-राज्य के रूप में देखने का आधार क्या है? कुछ ऊंचे दर्जे के पश्चिमाभिमुखी चिंतकों के सामने एक बड़ा संकट यह था कि इसे एक राष्ट्र-राज्य की तरह देखने के बजाय इसे कई छोटी-छोटी 'राष्ट्रीयताओं का समुच्चय' माना जाए और इसका अमेरिका की तर्ज पर नाम भी भारत के बजाय 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ इंडिया' रखा जाए। पिछले दिनों चुनाव के हो-हल्ले में किसी नेता ने शायद कहीं ऐसी घोषणा भी की थी कि अगर उनकी पार्टी विजयी हुई तो वे भारत का नाम बदल कर 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ इंडिया' कर देंगे।

बहरहाल, तब भारत के तमाम कद्दावर नेताओं का यह स्पष्ट विचार था कि कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारत एक राष्ट्र है। हां, भौगोलिकताएं जरूर भिन्न हैं, जो कि एक महाद्वीप की प्राकृतिकता की देन हैं, लेकिन सांस्कृतिकताओं के भीतर एक दृढ़ अंतःसूत्र है, जो इसे एक राष्ट्र बनाता है। बहुलता इसका सांस्कृतिक सत्य है। नेहरू, जिनके बारे में कहा जाता रहा कि वे अखिल भारतीयता से सर्वाधिक आसक्त रहते थे उनकी इतिहासप्रियता में सम्राट अशोक और उसका भारत, एक किस्म की रूमानियत के स्तर तक शामिल थे। उनकी ऐसी ही इतिहास-आसक्ति के चलते यह भी कहा जाता रहा कि उनके भीतर एक अशोक सम्राट जिंदा था और वे वही हो जाना चाहते थे। हालांकि जब वे भारत के सामान्यजन के हृदय सम्राट कहलाए तो अशोक के भारत के विखंडन में, सम्राट बनने की उनकी बेसब्री की भी बड़ी भूमिका रही।

नब्बे के दशक में हमारे यहां भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तेज होते ही फिर से भारत की 'अखिल-भारतीयता' को खारिज करने की कोशिशें शुरू हुईं। क्योंकि भूमंडलीकरण की जरूरतों में यह भी शामिल है कि कोई राष्ट्र, जो भूमंडलीकृत-अर्थव्यवस्था का हिस्सा बनने को आतुर है, तो उसे उसकी संप्रभुता को विस्मृत करना होगा। कुछ लोग गफलत में 'वसुधैवकुटुंबकम' की याद दिलाते हुए, भूमंडलीकरण के विचार को भारत की प्राचीनतम वैदिक-अवधारणा सिद्ध करने में जुट भी गए। जबकि आज का यह भूमंडलीकरण बहुराष्ट्रीय निगमों और अंतरराष्ट्रीय पूंजी के गठजोड़ से बना नव-उपनिवेशवाद है।

> ***पर एक बात बहुत स्पष्ट है कि 'अखिल भारतीयता' को हासिल करने के इस मार्ग में जन-गोलबंदी की सीधी कार्रवाई सरीखी, गांधीवादी राजनीति की प्रतिनिधित्वमूलकता अनुपस्थित है। यह अखिल भारतीयता, उन्मत्त और उग्र 'राष्ट्रवाद' के प्रिज्म से 'बहुसंख्यक अस्मिता' के उदय की ही सूचना है। यह भारत को 'महादेश' बनाने वाले महाआख्यान को रचेगी या कि उसके लोकतंत्र को रक्त-रंजित करेगी? निश्चय ही ऐसे प्रश्नों से हमें एक दिन रूबरू होना पड़ेगा, क्योंकि इस पुनराविष्कृत अखिल भारतीयता का पर्वत एक ही गिरधर की अंगुली पर टिका है और उसकी जयकार करने वालों को सिर्फ उनका भय जोड़े हुए है, कुचले जाने का भय।***

'राष्ट्र' और 'राष्ट्रवाद' दोनों ही शब्द इस भूमंडलीकरण की आंत में अपच पैदा करते हैं और रह-रह कर खट्टी डकारें पैदा करते हैं। कहा जाने लगा कि ये दोनों शब्द भूमंडलीकरण के लिए गतिरोधक हैं, इसलिए अवांछनीय भी। वैसे भी इस भूमंडलीय राजनीति में कहा जाता है, राष्ट्र एक सर्वथा काल्पनिक समुदाय है। उधर इंदिरा गांधी की आसन्न मृत्यु ने भारत की राजनीतिक अखिल-भारतीयता को आक्सीजन जरूर दी, क्योंकि मतदाता ने कांग्रेस को बांग्लादेश के वक्त के विजयोन्माद जैसा ही भारी जनादेश दिया था। लेकिन उसे सहानुभूति का मनोवैज्ञानिक उफान मान लिया गया। लेकिन राजीव गांधी के अवसान के बाद यह सच निश्चित ही सर्वत्र दिखाई दे रहा था कि अखिल भारतीयता धीरे-धीरे छीजती जा रही है।

इसके पीछे एक कारण यह भी था कि भारत जैसे ही आर्थिक स्तर पर वैश्विक होने लगा, चेतना के स्तर पर वह अधिक क्षेत्रीय होने लगा। दिल्ली के सिंहासन पर बैठे व्यक्ति का संकटमोचक लगना बंद हो गया। वह सौ रुपए भेजता था, लेकिन जनता को सोलह रुपए मिलते थे। नतीजतन, उसने स्थानीयता में भरोसा देखा और क्षेत्रीय नायक मुक्तिदाता दिखाई देने लगा। मंडल आयोग ने जातिवाद को आहुति दी और कांशीराम का हाथी ऐरावत बनने लगा। बहरहाल, बहुत छोटे से कालखंड में यह हुआ कि कोई भी राजनीतिक दल 'अखिल भारतीय' नहीं रह गया। धड़ाधड़ क्षेत्रीय दल उठने लगे और चेतना के स्तर पर एक खंड-खंड भारत स्पष्ट दिखाई देने लगा। किसी को छत्तीसगढ़ की जरूरत हुई, किसी को झारखंड की और इस तरह के विखंडन की प्रवृत्ति तो खालिस्तान की मांग के साथ ही शुरू हो गई थी।

कुल मिला कर हुआ यह कि देश के एक भी राजनीतिक दल की हैसियत अखिल भारतीयता की नहीं रह गई। अखंड भारत का नारा बुलंद करने वाले दल की स्थिति तो केवल उत्तर भारत के धर्मप्राण लोगों के बीच रह गई थी। राजेंद्र माथुर तो यह कहने लगे थे कि भारतीय रेल और संघ लोकसेवा आयोग को छोड़ कर, अब अखिल भारतीयता सर्वत्र खंडित है। बहरहाल, पूर्व और पश्चिम बर्लिन एक हो रहा था और संघीय ढांचे वाले बहुवचनीय 'यूनाइटेड स्टेट्स' को एकवचनीय अमेरिका कहा जाने लगा था। जबकि भारत, जिसे संविधान में 'दैट इज यूनियन' कहा जाता था, वह बहुवचन की तरफ बढ़ता जा रहा था।

कहना न होगा कि अब जबकि इतिहास में अखिल भारतीयता का प्रतिमानीकरण कर चुकी भारतीय कांग्रेस महज एक क्षेत्रीय दल की दुर्दशा तक पहुंच गई है, तो पूछा जाना चाहिए कि क्या भारतीय जनता पार्टी इस जनादेश से एक ऐसी नई अखिल भारतीयता को आविष्कृत कर रही है कि हमारी परंपरागत सामासिक-सांस्कृतिकता ध्वंस की दिशा में कूच करने वाली है। मसलन, हम राजनीतिक परिसर में निगाह डालें तो पाते हैं कि वहां अल्पसंख्यक घटक की उपस्थिति बहुत न्यून है। लगभग आटे में नमक की तरह। क्योंकि कहा जा रहा है कि भारतीय मुस्लिम समुदाय की भागीदारी भाजपा की मौजूदा सत्ता-संरचना में शून्य है। 1952 के बाद ऐसा पहली बार घटा है, जब सबसे कम मुस्लिम उम्मीदवार चुने गए हैं। और इस विजयी दल में तो एक भी मुसलमान सांसद नहीं है।

प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं कि यह अखिल भारतीयता नेहरू और पटेल द्वारा लोकतांत्रिक आदर्शों को सामने रख कर गढ़ी गई, भारतीय राष्ट्र-राज्य की अखिल भारतीयता है या कि कोई और ही, जिसका स्वप्न राष्ट्रीय स्वयंसेवक के आद्यपुरुष की आंख में आकार लेता रहा था? वह अभी तक एक स्थगित स्वप्न ही बना हुआ था। क्या यह धर्म से धमकी हुई तो नहीं है...? क्या इस अखिल भारतीयता को बूथ की ओर मन में किसी किस्म का क्रोध छिपाए कूच करती भीड़ ने उकेरा है? या कि यह कांग्रेस के लिए संचित घृणा की कोख से उत्पन्न हुई है, जिसकी मोटी-सी गठरी पगड़ी की तरह बांधे रहने वाली सत्ता देश का सौदा करने में लगी थी।

क्या इस अखिल भारतीयता को 'हैप्पी इकोनॉमिक्स से हिप्नोटाइज' हुई उस पीढ़ी के युवा ने ईजाद किया है, जो देश और दुनिया से नितांत दूर, मीडिया द्वारा पैदा किए गए, डिजिटल आशावाद के पीछे आंख मूंद कर हो लिया है, जबकि आर्थिक विकास के वैश्विक परिप्रेक्ष्य की उसे रत्ती भर भी समझ नहीं है। वह तो उपभोग के आनंदवाद में डूबा है और उसमें उदारवाद से आई आधुनिकता ने उसे यौनानंद बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। क्या यह अखिल भारतीयता विकास की 'समरूपता के स्वप्न' से नाथ कर निकली है, क्योंकि चुनावी गर्जनाओं में सबका साथ, सबका विकास का संकल्प नमो-नमः का आप्त वाक्य ही बना हुआ था। या फिर उस हिंदुत्ववादी 'एकरूपता' के अधूरे स्वप्न को पूरा करने की प्रतिज्ञा के साथ खड़ी हुई है, जो निश्चय ही राम मंदिर की तरह अधूरा है।

पर एक बात बहुत स्पष्ट है कि 'अखिल भारतीयता' को हासिल करने के इस मार्ग में जन-गोलबंदी की सीधी कार्रवाई सरीखी, गांधीवादी राजनीति की प्रतिनिधित्वमूलकता अनुपस्थित है। यह अखिल भारतीयता, उन्मत्त और उग्र 'राष्ट्रवाद' के प्रिज्म से 'बहुसंख्यक अस्मिता' के उदय की ही सूचना है। यह भारत को 'महादेश' बनाने वाले महाआख्यान को रचेगी या कि उसके लोकतंत्र को रक्त-रंजित करेगी? निश्चय ही ऐसे प्रश्नों से हमें एक दिन रूबरू होना पड़ेगा, क्योंकि इस पुनराविष्कृत अखिल भारतीयता का पर्वत एक ही गिरधर की अंगुली पर टिका है और उसकी जयकार करने वालों को सिर्फ उनका भय जोड़े हुए है, कुचले जाने का भय।

साभार जनसत्ता

दंगे और इंसाफ की लाचारी

■ कनक तिवारी

अंगरेज भारत में कई कुटिल प्रशासनिक व्यवस्थाएं दे गए हैं। उनमें अदालती न्यायदान पद्धति का मिथक भी शामिल है।

हत्या शारीरिक क्षतियों की सूची में सबसे जघन्य और घृणित कृत्य है। सांघातिक चोट, बलात्कार, अपहरण और सायास धमकियां उसी अपराध कुटुंब की हिंसाएं हैं। 'कानून का राज' वाला जुमला दुनिया के लोकतंत्रों में जनता की जुबान पर चस्पां कर दिया गया है। उसके नैतिक अर्थ से कानून का कोई लेना-देना नहीं होता। न्याय है कि होता हुआ दीख रहा है, लेकिन होता नहीं है। गरीब, अशिक्षित और दुर्घटनावश बने अपराधियों को कानून और न्यायालय डींगें मारते भी सजाएं दे सकते हैं। कुछ अपवादों को छोड़ कर सजायाफ्ता और उसके सामाजिक स्तर में उलट अनुपात का संबंध होता है। अमीर, असरदार, नौकरशाह, राजनेता, उद्योगपति, सुपारी लेने वाले सीरियल किलर, पुलिस बल वगैरह अभियुक्त होने पर भी समाज में उन्मुक्त होते हैं। मामलों में उनका बरी हो जाना तो पहले से तय लगता है।

सांप्रदायिक और अन्य दंगे लोकतंत्र के उजले चेहरे पर चेचक के बदनुमा दाग हैं। स्वाधीन देश में हजारों की संख्या में सांप्रदायिक दंगे हुए और अब भी हो रहे हैं। अंगरेजों ने ताजीरात-ए-हिंद, दंड प्रक्रिया संहिता और साक्ष्य अधिनियम का त्रिभुज लॉर्ड्स की इबारत में इंग्लैंड के हाउस ऑफ कॉमन्स में बैठ कर खींचा था। फौजदारी अदालती व्यवस्था इसी त्रिभुज में फंसी न्याय देने की कोशिश, जुगत या गलतफहमी में व्यस्त है। दिल्ली में सिखों का कत्लेआम (1984), मुंबई (1992), कंधमाल (2008) और गुजरात (2002) सहित मुजफ्फरनगर (2014) के सांप्रदायिक दंगों में वास्तविक अभियुक्तों को कभी सजा नहीं मिलेगी। फिर भी राजनेता, जनता और मीडिया की यह खुशफहमी लगातार उम्मीदजदा है कि न्याय-व्यवस्था में गहरा विश्वास रखना चाहिए। अदालतें 'देर आयद, दुरुस्त आयद' के मुहावरे के अनुरूप कभी न कभी न्याय तो जरूर करेंगी! यह ठीक है कि गुजरात दंगों को लेकर पूर्व मंत्री माया कोडनानी, बाबू बजरंगी और बिलकीस बानो बलात्कार कांड के अपराधियों को सजाएं मिली भी हैं। लेकिन ये सजाएं अपवाद हैं, जो नियम को ही सिद्ध करती हैं।

सांप्रदायिक दंगे अगर दो शत्रु-समूह करें, एक-दूसरे के विरुद्ध दंड प्रक्रिया संहिता के तहत प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज करें, तब जांच प्रक्रिया का न्याय के अंतिम पड़ाव तक पहुंचने की मृगतृष्णा का पाथेय झिलमिलाने लगता है। मगर जब राज्य ही सांप्रदायिक हिंसा का कारक या संरक्षक हो तो पुलिस थानों में रिपोर्ट तक दर्ज नहीं हो पाती। जब पुलिस ही अपने आकाओं का हुक्म बजाते नागरिकों को जानवरों की तरह काटने लगे, स्त्रियों का शीलहरण करे, गरीबों तक की संपत्तियां छीन ले, माहौल में अश्लीलता, असभ्यता और बदतमीजी का तांडव भर दे, तब कानूनी प्रक्रिया की रस्म अदायगी तक भीगी बिल्ली की तरह दुम दबाने लगती है।

गुजरात, दिल्ली, ओड़िशा, मुंबई, मेरठ, मुजफ्फरनगर सहित पूरे देश में सांप्रदायिक दंगों से जुड़े मामलों में कानूनी प्रक्रिया लाचार-सी दिखती रही है। कुछ बुद्धिजीवियों, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, प्रबुद्ध वकीलों और मीडिया के ईमानदार पत्रकारों के नैतिक दबाव और हठवादी जागरूकता के चलते इने-गिने मुकदमों में वास्तविक न्याय मिलने की धूमिल संभावनाओं का उजला चेहरा दिखता है। लेकिन राज्य प्रायोजित हिंसा के अधिकतर मुकदमों में वही ढाक के तीन पात नजर आते हैं।

गुजरात दंगों को लेकर पीड़ित जकिया जाफरी की एक विविध याचिका को अमदाबाद के मेट्रोपोलिटन न्यायालय ने यह कहते हुए रद्द कर दिया कि दंगों की जांच के लिए गठित विशेष जांच दल (एसआइटी) ने ठीक कहा था कि उसे अपराध सिद्ध करने योग्य साक्ष्य मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी और अन्य के विरुद्ध नहीं मिला। इसलिए मोदी और अन्य संदेहियों को अपराध से पृथक कर दिया गया। सबसे निचली अदालत द्वारा लाचार एसआइटी आवेदन पर इस आदेश के आत्म-प्रचारित राजनीतिक गुणनफल निकाले गए। कहा गया कि न्याय की जीत हुई है।

एसआइटी प्रमुख और सीबीआइ के पूर्व निदेशक आर.के. राघवन का आत्मविश्वास बोला कि जांच रिपोर्ट को वैधानिक मान्यता मिल गई है। प्रचारित हुआ कि अपनी आंखों पर पट्टी बांधे न्याय-व्यवस्था ने आखिर खुली आंखों से वास्तविक न्याय कर दिया है। घृणित अपराधों का सच लाशों के मलबे के नीचे टीसता रहेगा। प्रचार का इतना तेज शोर है कि सत्य की कराह को सुनने का व्यवस्था के पास वक्त, नीयत और समझ तक नहीं है।

राज्य प्रायोजित हिंसा की रपट पुलिस थानों में पीड़ित व्यक्ति दर्ज कराने की हिम्मत नहीं करता। जाता भी है तो उसे जान-माल की धमकी मिलती है, जो क्रियान्वित भी की जा सकती है। स्वयंसेवी संस्थाओं, समाज, सुप्रीम कोर्ट और मीडिया वगैरह के साहसिक दबाव के चलते प्राथमिकी दर्ज भी कर ली गई, तब भी जांच तो थाने के अधिकारियों को ही करनी होती है। वही तो अभियुक्तों का आचरण करते पीड़ितों द्वारा देखे गए होते हैं। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के तहत लिए गए गवाहों के बयान न्यायालय में सरेआम झुठलाए जा सकते हैं। उन पर कोई मुकदमा भी नहीं चल

सकता।

अंग्रेजों ने यह जुमला जनता को झांसा देकर रचा था कि पुलिस किसी भी शरीफ व्यक्ति को झूठे मुकदमे में फंसा कर नकली गवाहियां टीप सकती है। ऐसे गवाह अदालत में निर्भय होकर बयान को खंडित कर सच बोल सकते हैं। लेकिन हो यह रहा है कि लोकतंत्र में रसूखदार उद्योगपति, फिरौती वसूलने वाले, राजनेता, नौकरशाह और खुद पुलिस अधिकारी भी अभियुक्त होते गए हैं। उनके खिलाफ सच्चे या झूठे दर्ज किए गए बयान न्यायालयीन कथन के स्तर पर सच की देह से आत्मा निकाल लेते हैं। अभियुक्त मूछें ऐंठते अदालत से निकलते हैं। शिकायतकर्ता शर्मसार होकर चूहों की तरह घर के बिल में कुंठित होकर दुबक जाते हैं। गवाह दलाली का कमीशन खाते सियासत चलाते हैं। मीडिया का बहुलांश अभियुक्तों का गुणगान करने के रोमांच से लबरेज होता रहता है।

विचारण न्यायालय अभियुक्त का स्वर्ग और पीड़ित का नर्क बनाए जा रहे हैं। घटना के दस-बारह वर्ष बाद महंगी फीस लेकर वाक् कला में टर्राने वाले वकील निरक्षर, अल्पशिक्षित और औसत बुद्धि के कानूनी जुमलों से भी बेखबर नागरिकों से आत्ममुग्ध शैली में साक्ष्य अधिनियम की सर्वोच्च उपपत्तियों का ठीकरा जिरह में उन पर फोड़ते हैं। वे लगातार अभियुक्त की आंखों में पारस्परिक प्रशंसा और मोटी फीस के अहसान के कृतज्ञ भाव से सराबोर होकर देखते रहते हैं। न्यायालय थानेदार द्वारा संदेहजनक परिस्थितियों में लिखी गई इबारतों में एक-एक शब्द तक में विसंगति ढूंढ़ते हैं। फिर दंड दे सकने के न्यायपथ के आसपास उग आई चोर पगडंडियों में भटक जाने को अभिशप्त होते हैं।

विचारण न्यायालयों की सांख्यिकी पर शोध किया जाए तो लगभग नब्बे प्रतिशत मुकदमों में या तो चश्मदीद गवाह को खरीदा जाकर उसे अभियोजन द्वारा पक्षविरोधी घोषित किया जाता है या अभियुक्त या बचाव पक्ष के अधिवक्ता को गैरहाजिर रखा जाकर विचारण को दशकों की यात्रा करनी होती है या गैरजमानती और समझौते के नाकाबिल मामलों में भी भरी अदालत में समझौते की तजवीज की जाती है, जिससे समझौतानामा की संभावित प्राप्य राशि को लेकर बंदरबांट की जा सके। कुछ प्रकरणों में तो न्यायाधीश को ही खरीद लेने की संभावनाएं साकार कर ली जाती हैं।

अभियुक्तों की इन परिस्थितियों में की गई उन्मुक्ति के न्यायालयीन उद्घोष को दागी राजनेताओं के लोकचरित्र का प्रमाणपत्र बना कर उन्हें मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री पद तक का नैतिक दावेदार अनुकूल समूहों द्वारा बना दिया जाता है। राजनेता बजा फरमाते हैं कि 'कानून अंधा होता है।' 'कानून के अनुसार न्याय होता है।' 'कानून का काम है कि वह अपनी राह चले।' 'अमुक मंत्री ने जनदृष्टि या नैतिक दृष्टि के अनुसार भले अपराध किया होगा, लेकिन कानून की दृष्टि ही सर्वोपरि है।'

कानून का नैतिकता, नागरिक समझ और 'प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता' जैसे शब्दार्थों से कोई सरोकार नहीं होता। गुजरात, दिल्ली, मुंबई, कंधमाल और मुजफ्फरनगर वगैरह में हजारों निर्दोष नागरिकों के साथ अन्याय हुआ। नकाबपोशों का गिरोह अगर किसी मुख्यमंत्री के बंगले पर डकैती करे, रात के अंधेरे में किसी उद्योगपति की मिल में कोई भीड़ आग लगा दे, अमीर घराने की किसी युवती को मुंह पर कपड़ा बांधे लोग सरेआम अगवा कर लें, तो इन प्रकरणों में मुलजिमों के खिलाफ नामजद रिपोर्ट कैसे दर्ज की जा सकती है?

ऐसे ही समांतर सवाल फिर भी भारतीय अदालतें अस्मत, अस्मिता और संपत्ति लुटा चुकी गरीब जनता से क्यों पूछती रहती हैं? बलात्कारी, डकैत, हत्यारे तस्वीर लगा पहचान पत्र पीड़ित के घर छोड़ कर नहीं जाते। पुलिसिया अन्वेषण या तो उन्नीसवीं सदी की लचर अवैज्ञानिक हालत में हो रहा है या वह जानबूझ कर आधुनिक प्रविधियों के उपलब्ध होते हुए भी हस्तरेखाओं, आवाजों, कद-काठी, वैमनस्य और बदला लेने के विस्तारित आयामों में जाकर मुलजिम को नहीं पकड़ रहा है।

दंड व्यवस्था में अपील और अपीलोत्तर न्यायालयों में चित्रगुप्त की डायरी नहीं लिखी जाती। वे कनिष्ठ न्यायपालिका की डायरी को बांच कर नए अर्थ ढूंढ़ने का जतन जरूर कर सकते हैं। गुजरात ही तो वह प्रदेश है, जहां के एक मजिस्ट्रेट ने आपराधिक प्रकरण में राष्ट्रपति और सर्वोच्च न्यायाधीश को अदालत में हाजिर होने के लिए समन जारी कर दिया था। उसे बाद में बर्खास्त कर दिया गया। हितबद्ध पुलिस अन्वेषण, अभियुक्तोन्मुख कानून और 'बासी कढ़ी में उबाल' की तरह की न्याय-प्रणाली में फंस कर सांप्रदायिक हिंसा के हजारों-लाखों शिकार लोगों की आवाजों का चीत्कार माहौल में गूंज तो रहा है।

अभियुक्तों को ससम्मान बरी करने के आदेशों के कानूनी, लेकिन अनैतिक एलान को न्याय की सिंफनी बनाया जा रहा है। सबूतों के अभाव में निजी मुलजिम छोड़े जा सकते हैं। लेकिन सरकारी बदइंतजामी, नाकामी, निष्क्रियता और ढिठाई को नैतिक दृष्टि से मुलजिम क्यों नहीं कहा जाना चाहिए। अंगरेजों की गुलामी से मुक्त होकर भारतीय इतिहास की सबसे पहली और इकलौती सामूहिक समझ की किताब यानी संविधान को लिखने का श्रेय देश के प्रत्येक नागरिक यानी 'हम भारत के लोगों' को है। इसकी वाचाल, उद्दंड, अपराध उद्दीपक और बेखबर संतानें उस महान सामूहिक ग्रंथ के रचयिताओं, आम आदमी को ही नेस्तनाबूद होते देखने को भी न्याय होता कहती गुलछर्रे उड़ा रही हैं।

गुजरात, मुंबई और मुजफ्फरनगर के फौत या पीड़ित रहे हिंदू-मुसलमान और दिल्ली सहित कई इलाकों के सिख भी तो संविधान की शास्त्रीय शब्दावली में उसके निर्माता हम भारत के लोग हैं। कानूनी व्यवस्थाएं और न्याय-पद्धति उनकी देहों के लिए दीमकों की भूमिका में न केवल उग आई हैं, बल्कि उनकी दंशवृत्ति और वंशवृद्धि की लगातार संभावनाएं बनी हुई हैं।

साभार रविवार डॉट कॉम

गरीबी और प्रधानमंत्री मोदी

■ विकास नारायण राय

भाजपा संसदीय दल का नेता चुने जाने की औपचारिकता के बाद मोदी ने संसद के केंद्रीय हाल से संबोधन में अपनी सरकार को गरीबों, युवाओं और स्त्रियों को समर्पित करार दिया। कॉरपोरेट जगत और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चहेते 'चायवाले' के लिए इस दिखावे को अधिक दिनों तक निभाना टेढ़ी खीर ही होगी। गरीबों को लेकर मोदी का नवउदारवादी ट्रैक रिकार्ड सर्वाधिक संदेहास्पद रहा है। हालांकि युवाओं में आज उनकी छवि आशा और विश्वास देने वाले एक राष्ट्रवादी नेता की जरूर है, पर इस समीकरण की सेहत के लिए रोजगार के अवसरों और लोकतांत्रिक गतिशीलता का वांछित ब्लूप्रिंट उनके आर्थिक-सामाजिक क्षितिज से नदारद है। जबकि स्त्रियों के लैंगिक उत्पीड़न में बदलाव को लेकर मोदी घिसे-पिटे मर्दवादी जीवन-मूल्यों और विफल सामंती पहलों से यथास्थिति के ही पक्षधर नजर आते हैं।

गुजरात विकास मॉडल के मिथक के जनक नरेंद्रभाई को अपने राज्य में गरीबी दिखनी अरसे से बंद हो चुकी है। चुनाव 2014 की चार सौ जनसभाओं में उन्होंने गुजरात मॉडल का तमाम पहलुओं से जिक्र किया होगा, पर भूले से भी गरीबी की वजहों की चर्चा नहीं की। लोकसभा की जंग जीतने के बाद जब वे अपनी विजय-यात्रा के समापन पर काशी के लोगों का धन्यवाद करने गए, तो वहां भी उन्हें गंदगी तो नजर आई, पर गरीबी नहीं। बनारस की गलियों में साफ-सफाई के एजेंडे को लेकर वे नाम महात्मा गांधी का लेते रहे, पर लहजा उनका संजय गांधी वाला रहा- शासकों की आंखों में गंदगी में लिथड़े गरीब तो गढ़ते हैं, पर गरीबी की जड़ें नहीं। गंगा के इस स्वघोषित बेटे को भी विदेशी पर्यटकों के सौंदर्य-बोध की चिंता रही और सफाई में सिंगापुर का स्तर छूने की ललक दिखी। पर प्रदूषण के लिए बजाय कॉरपोरेट लालच को जवाबदेह ठहराने के उसने बनारसी जीवनशैली पर ही तंज कसा।

लगे हाथों गंगा आरती के मंच से मोदी ने अपना 'ऐतिहासिक' एजेंडा भी रेखांकित किया- देश के लिए मर नहीं सके तो क्या, जीकर देश-सेवा करेंगे। बताया कि गुजरात का मुख्यमंत्री बनने पर वे शहीद श्यामजी वर्मा की अस्थियां विलायत से स्वदेश लाए थे, अब भारत का प्रधानमंत्री बन गंगा का उद्धार करेंगे- दावा किया कि नियति को इन पुनीत कार्यों के लिए उनकी ही प्रतीक्षा थी। मोदी ने वाराणसी में नए उद्योगों के माध्यम से रोजगार लाने का जिक्र किया, पर वहां के लाखों मुस्लिम बुनकरों के बिचौलियों और व्यवसाइयों द्वारा रोज होने वाले शोषण पर चुप रहे। उन्होंने शहर के इस चेहरे से भी अनभिज्ञ रहना ठीक समझा कि बनारस पारंपरिक रूप से भिखारियों और वेश्याओं का भी ठिकाना रहा है। दशाश्वमेध घाट पर भी, जहां से मोदी बोल रहे थे, सुबह-शाम भिखारियों की लंबी कतारें लगती हैं और शहर की दालमंडी के वेश्यालयों की विरासत चंद किलोमीटर पर शिवदासपुर में गुलजार है।

गुजरात के वडोदरा (मोदी का दूसरा चुनाव क्षेत्र) और सूरत जैसे औद्योगिक-व्यावसायिक शहरों का कारोबार, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार, जिनकी पचास लोकसभा सीटों के मद्देनजर मोदी ने वाराणसी से चुनाव लड़ा, के लाखों विस्थापित मजदूरों-कारीगरों के दम पर चल रहा है। काशी के विजय उद्घोष में वे इलाके की गरीबी का यह पहलू भी गोल कर गए। यानी सबसे सनातन सामाजिक बीमारी-गरीबी- और उसके सर्वाधिक उपेक्षित लक्षणों- भिखारी, वेश्या और विस्थापित- का प्रधानमंत्री मोदी के लिए जैसे कोई अस्तित्व ही न हो!

मोदी ने एक सौ पचीस करोड़ भारतीयों को लेकर एक गरीबपरवर सपने की बात जरूर की। सबका अपना एक शौचालय-युक्त घर हो, जिसमें चौबीस घंटे पानी और बिजली की सुविधा हो! निश्चित ही इस व्यक्ति के अंदर अपने गरीबी के दिनों की टीस बची है। क्या इतना काफी है? ध्यान रहे कि मोदी ने चुनाव प्रचार में सौ नए आधुनिक शहर बनाने की बात बार-बार दोहराई है। यह रीयल स्टेट के मगरमच्छों की खातिर सरकारी खजाने खोलने की भूमिका है।

हरेक को घर देने की जुगत को अंततः राष्ट्रीय बैंकों की मार्फत किसी ऐसी योजना से नत्थी किया जाएगा, जो हरेक को कर्ज से लाद देगी। कौन नहीं जानता कि जिस तरह रीयल स्टेट का व्यवसाय देश में चलाया जा रहा है उसने अर्थव्यवस्था में कालेधन की बाढ़ ला दी है, और एक अदद घर का सपना आम आदमी की आमदनी की पहुंच से बाहर कर दिया है। बेहद कम खर्चीला और आसान विकल्प होगा कि गांवों में ही जीवन की आधुनिक सहूलियतें और रोजगार के भरपूर अवसर पहुंचाए जाएं, जिससे शहरों में अमानवीय पलायन रुके। पर यह, मोदी भी मानेंगे, कॉरपोरेट मुनाफाखोरों को मंजूर नहीं।

दरअसल, मोदी के जिस हिंदुत्ववादी भूत की आशंका पर उनके विरोधियों ने चुनाव प्रचार में इतना ध्यान केंद्रित किया, वह उनके कॉरपोरेट वर्तमान और फासीवादी भविष्य के खतरों के सामने फीका ही कहा जाएगा। यह स्पष्ट है कि बिना इस वर्तमान और भविष्य की आकर्षक पैकेजिंग के, अकेले हिंदुत्व के दम पर, उन्हें लोकसभा चुनाव में भारी सफलता नहीं मिल सकती थी।

सत्ता का यही गठबंधन मोदी के सुशासन और विकास का आधार है। शासन की अपनी सिंगल विंडो कृपा-प्रणाली को मोदी एक नारे

के रूप में दोहराते आए हैं- मिनिमम गवर्नमेंट, मैक्सिमम गवर्नेंस। मिनिमम गवर्नमेंट, कॉरपोरेट को जन-संसाधनों के दोहन की छूट के लिए; और मैक्सिमम गवर्नेंस, जनता को इस प्रणाली से नत्थी रखने के लिए। यह भी स्पष्ट है कि मोदी के प्रधानमंत्री बनने से किनके अच्छे दिन आने वाले हैं। देश के शेयर बाजार रिकार्ड-तोड़ ऊंचाई की ओर अग्रसर हैं, और भारतीय रुपया अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा विनिमय बाजार में मजबूत होता जा रहा है। 'विकास' के ये दोनों सूचक समृद्ध तबकों के सरोकार हैं, न कि आम आदमी के। देर-सबेर, फिलहाल सुस्त पड़े, 'विकास' के तीसरे सूचक, रीयल स्टेट को भी इस माहौल में गर्म होना ही है- यानी आम आदमी का घर और महंगा होगा। कॉरपोरेट मीडिया भी आक्रामक अंदाज में इस तर्क की जमीन तैयार करने में लग गया है कि मुद्रास्फीति पर काबू पाने के लिए ग्रामीण रोजगार के मनरेगा जैसे खर्चों और कृषि उत्पादों के न्यूनतम समर्थन मूल्यों का तरीका बंद किया जाए। जाहिर है, मुद्रास्फीति के संदर्भ में, बेलगाम कालाधन, उद्योगपतियों को बेहिसाब सबसिडी और सरकार की बेतरह फिजूलखची पर रोक की कवायद कांग्रेसी सरकार की तरह भाजपा सरकार में भी दिखावटी उपायों के हवाले ही रहेगी। मोदी के केंद्रीय सत्ता में आने से टैक्स-हैवन भी, देशी और विदेशी दोनों, पूर्णतः आश्वस्त दिखते हैं; उनके हित पहले से अधिक सुरक्षित हाथों में जो हैं।

मोदी ने खुद को विकास का जादूगर कहा है। आखिर उनकी सत्ता से क्रोनी-कैपिटल भी आश्वस्त है और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी! दोनों के आश्वस्त होने के ठोस आधार भी हैं। मोदी के ट्रैक रिकार्ड से ही आंकड़ा देखिए- विकास के गुजरात मॉडल के अंतर्गत मोदी ने सत्रह लाख वर्ग मीटर से अधिक सरकारी और अधिग्रहीत जमीन कौड़ियों के मोल चहेते कॉरपोरेट समूहों में बांटी है; चाहे इस याराने को निभाने में राज्य की जनता को हजारों करोड़ रुपए का चूना लगा हो। संघ भी अपने पूर्व प्रचार मंत्री की हिंदुत्व निष्ठा का फलदाई विस्फोट गुजरात में देख ही चुका है। संघ के पास यह विश्वास करने के भी भरपूर कारण होंगे कि नियति ने उन्हें सिर्फ गंगा की सफाई के लिए नहीं, बल्कि राम मंदिर निर्माण, समान सिविल कोड, धारा 370 और 'पिंक रिवोल्यूशन' की समाप्ति और मुस्लिम 'घुसपैठियों' को देश से बाहर खदेड़ने जैसे पुनीत कार्यों के लिए भी चुना है।

गरीबी पर मोदी का गुजरात का ट्रैक रिकार्ड क्या है? राज्य के अपने आंकड़ों के अनुसार इन बारह वर्षों में गांवों में गरीब परिवारों की संख्या उनतालीस प्रतिशत बढ़ी है। करीब चालीस लाख गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों में से नौ लाख शहरों में हैं। सूची में गांव और शहर में क्रमशः ग्यारह और सत्रह रुपया प्रतिदिन से कम कमाने वाले ही शामिल हैं, जबकि योजना आयोग के नए मानक में यह गणना क्रमशः बत्तीस और अड़तीस रुपए पर होनी चाहिए थी। गरीब पर व्यापकतम मार महंगाई और भ्रष्टाचार की होती है।

गुजरात में मोदी के लंबे शासनकाल में महंगाई बाकी देश की तरह ही बढ़ती रही। अंबानी की गैस के दाम को सोनिया-मनमोहन के तेल मंत्री मोइली ने चार गुना किया तो मोदी की गुजरात सरकार ने लगभग आठ गुना करने की अनुशंसा की। यहां तक कि दूध, खाद्य तेल, बिजली जैसी आम जरूरी चीजों की कीमतें खुद राज्य सरकार ने बार-बार बढ़ाईं।

मोदी शासन के दौर में गुजरात का एक भी बड़ा नेता, वरिष्ठ अधिकारी या प्रमुख पूंजीशाह नहीं मिलेगा, जिस पर राज्य की भ्रष्टाचार निरोधक मशीनरी ने स्वतः शिकंजा कसा हो। मानो मोदी के मुख्यमंत्री बनते ही चमत्कारिक ढंग से वे सभी ईमानदारी के पुतले बन गए। असली नीयत का इससे पता चलता है कि बारह वर्ष के मोदी के शासन काल में राज्य में लोकपाल का पद खाली रखा गया, जबकि भ्रष्टाचार के आरोप में सजा पाया व्यक्ति कैबिनेट मंत्री बना रहा। एक अन्य मंत्री, जिसके चार सौ करोड़ के मछली घोटाले पर गुजरात उच्च न्यायालय ने रोक लगाई, भी पद पर चलता रहा और खुद मोदी ने उस पर मुकदमा चलाने की अनुमति देने से मना कर दिया। पारदर्शिता और तकनीकी, जिसका गाना मोदी गाते नहीं थकते, गुजरात के गिने-चुने दफ्तरों में चहेते उद्यमियों को लालफीताशाही से बचाने के लिए है, गरीब को भ्रष्टाचार की मार से दूर रखने के लिए नहीं।

अंग्रेजी उपनिवेश के कर्मचारियों के पास जनता से रिश्वत उगाही के चार रास्ते खुले थे- नजराना (पदानुसार भेंट), शुक्राना (जायज काम पर), हर्जाना (नाजायज पर) और जबराना (जबरी वसूली)। नौकरशाही का यही खेल कमोबेश आजाद भारत की तमाम सरकारों के प्रश्रय में भी चलता रहा है और गुजरात इसका अपवाद नहीं है। बस, मोदी के 'सुशासन' ने इसे एक व्यवस्थित रूप दे दिया, जबकि राज्य का विजिलेंस विभाग शिकायत के थके आंकड़ों की 'विंडो-ड्रेसिंग' में व्यस्त रखा गया। कौन नहीं जानता कि राज्य में शराबबंदी के बावजूद शराब घर बैठे मिल जाती है- हजारों करोड़ की यह काली कमाई, मोदी के भी मुख्यमंत्रित्व काल में, राजनीतिकों, आबकारी विभाग, पुलिस और तस्करों में बेरोकटोक बंटती आई है।

दुनिया में शायद ही कहीं नवउदार पूंजीवाद और धार्मिक राष्ट्रवाद के गठबंधन से आर्थिक विकास का सफल लोकतांत्रिक मॉडल बना हो; पाकिस्तान जैसे सैन्यवादी मॉडल बेशक हैं। पूंजीशाहों को खुल कर मुनाफाखोरी करने के लिए एक विरोध रहित सामाजिक वातावरण चाहिए। जापान और दक्षिण कोरिया में समाज के पारंपरिक अनुशासन और चीन में कम्युनिस्ट पार्टी के अनुशासित ढांचे ने यह जरूरत पूरी की है। भारत में मनमोहन सिंह बेशक नवउदार पूंजीवाद के जनक माने जाते हों, पर उनके ढुलमुल नेतृत्व में निहायत भ्रष्ट कांग्रेसी शासन एक अस्त-व्यस्त परिदृश्य ही रहा। अब, इस हित-साधन का गुरुतर भार संघ के हिंदुत्ववादी अनुशासन में पले-बढ़े रणनीतिकारों के जिम्मे आ गया है। गरीबों के लिए तो प्रधानमंत्री मोदी कभी सचमुच की आशा हो ही नहीं सकते; युवाओं और स्त्रियों के लिए भी उनका शासन मृग-मरीचिका ही सिद्ध होगा।

साभार जनसत्ता

ऐतिहासिक जीत के वक्त आदम अजमेरी का किस्सा

■ सुभाष गाताडे

सोलह साल का शाहवान, जो अहमदाबाद के कालुपुर का रहने वाला है, वह उस दिन बहुत खुश था जब भारत के मतदाताओं ने अपना फैसला सुनाया। उसने अपनी अम्मी को पकड़ कर हवा में उठाने की कोशिश की और अपने भाई अलमास के साथ मोहल्ले में दौड़ गया। 'हम जीत गए, हम जीत गए।' और सिर्फ शाहवान और उसके परिवार के सदस्य ही नहीं, बल्कि उसी तरह की खुशियों की बयार मोहम्मद सलीम हनीफ शेख, अब्दुल कयूम मंसूरी उर्फ मुती बाबा और अन्य कइयों के घरों में दिखाई दे रही थी।

गौरतलब था कि शाहवान की प्रचण्ड खुशियां जबकि उसकी अम्मी नसीम की आंखों से खुशियों के आंसू बह रहे थे, आदि का ताल्लुक इस बात से कतई नहीं था कि जनाब मोदी की अगुआई में भाजपा ने ऐतिहासिक जीत दर्ज कर रही थी।

यह एक विचित्र संयोग था कि जिस दिन भारत के मतदाताओं का फैसला सामने आया जब भाजपा को मुल्क में आने वाले पांच साल राज करने का जनादेश मिला। यह वही दिन था जब भारत की आला अदालत ने एक ऐतिहासिक फैसले में अक्षरधाम आतंकी हमले को लेकर पोटा अर्थात् 'प्रीवेन्शन ऑफ टेररिजम एक्ट' जैसे कुख्यात कानून के तहत गिरफ्तार छह लोगों की रिहाई का आदेश दिया था और इस तरह गुजरात सरकार के विवादास्पद निर्णय को पलट दिया था।

वैसे आज बहुत कम लोग याद कर पा रहे होंगे कि किस तरह सितम्बर 2002 में अहमदाबाद स्थित अक्षरधाम मंदिर पर आतंकी हमला हुआ था जिसमें दो आतंकियों ने 37 लोगों को मार गिराया था और कईयों को घायल किया था। दोनों आतंकी कमांडो कार्रवाई में वहीं मारे गए थे।

मामले की जांच में पुलिस के आतंकवाद विरोधी दस्ते ने शाहवान के पिता आदम सुलेमान मंसूरी अर्थात् आदम अजमेरी, जो अपने घर के पास ही मैकेनिक का काम करते थे और अन्य चार को शाहपुर और दरियापुर इलाके से अगस्त 2003 में पुलिस ने गिरफ्तार किया और छठवें अभियुक्त को कुछ दिनों के बाद उत्तर प्रदेश से उठाया था। अभियोजन पक्ष ने उन पर आरोप लगाया था कि इन छह लोगों की इस आतंकी हमले में भूमिका थी। निचली अदालत ने आदम अजमेरी एवं अन्य एक व्यक्ति को फांसी की सजा सुनाई थी और बाकियों को उम्र कैद सुनाई थी। गुजरात हाईकोर्ट ने इसी सजा को बरकरार रखा था। आला अदालत में एके पटनायक, वी. गोपाल गौड़ा की द्विसदस्यीय पीठ ने 'निरपराध' लोगों को फंसाने के लिए गुजरात पुलिस की खिंचाई करते हुए साफ कहा कि अभियोजन पक्ष इन अभियुक्तों पर अपने आरोप प्रमाणित नहीं कर सका है और वे बिना शर्त रिहाई के पात्र हैं। इन अभियुक्तों के 'अपराध स्वीकृति' के बयानों को अदालत ने खारिज किया और उन्हें कानून की निगाह में अवैध घोषित किया और कहा कि अभियोजन पक्ष यह प्रमाणित नहीं कर पाया कि उन्होंने किसी षडयंत्र में हिस्सा लिया। सबूतों के परीक्षण और निचली अदालत के फैसले की पड़ताल करने के बाद सुप्रीम कोर्ट की पीठ ने इस बात को रेखांकित किया कि किस तरह अभियोजन पक्ष द्वारा गढ़ी गई स्टोरी हर मुकाम पर ध्वस्त होती दिखती है। इंडियन एक्स्प्रेस के मुताबिक (17 मई 2014) पीठ ने गृहमंत्री को इस बात के लिए जिम्मेदार ठहराया कि 'उन्होंने पोटा के तहत मुकदमे की अनुमति देने में दिमाग का इस्तेमाल नहीं किया क्योंकि वह निर्णय न सूचना पर आधारित था और न ही तथ्यों के स्वतंत्र विश्लेषण पर टिका था।' अदालत ने कहा कि यह मंजूरी इस वजह से खारिज हो जाती है और पोटा के तहत कानूनी नहीं है।

ईद के मौके पर शाहवान को जेल की अपनी यात्राएं याद हैं और किस तरह उसके पिताजी यह कहते हुए रोते थे कि त्यौहार के इस मौके पर उनके पास कुछ नहीं है कि वे उसे दे सकें। अब जहां तक नसीम का सवाल है तो उसके लिए यह दौर दोहरी दिक्कतों से भरा रहा है क्योंकि एक तरह उसके अपने रिश्तेदारों ने 'आतंकी की पत्नी होने के नाते उसका बहिष्कार कर रखा था और उसे किसी आयोजन पर भी नहीं बुलाते थे और दूसरी तरफ किसी तरह एम्ब्रॉयडरी करके और बुरका सिलकर उसे अपने परिवार का गुजारा करना पड़ रहा था। उसमें एकमात्र सहारा उसके अपने पड़ोसी थे जिन्होंने आदम को उनकी आंखों के सामने बड़ा होते देखा था और यह भी जानते थे कि किस तरह वह पड़ोसियों की

सेवा के लिए तत्पर रहता था। उन्होंने नसीम को नैतिक समर्थन देना जारी रखा था।

वे सभी लोग जिन्होंने चकाचौंध से परे जाकर गुजरात की असलियत को जानने की कोशिश की है। वे पूर्वाग्रहों से भरे नागरिक समाज एवं बेरहम प्रशासन के हाथों शिकार तमाम ऐसे निरपराधों की दुख एवं तकलीफों से भरी दास्तां बयां कर सकते हैं। वे गोधरा के चर्चित समाजसेवी मौलाना उमरजी की दास्तां बता सकते हैं, जिन्होंने 2002 के दंगों में राहत एवं पुनर्वास के काम में अपने आप को झोंक दिया था और शायद इसी वजह से कुख्यात पोटा कानून के तहत फजी आरोपों के तहत जेल में डाले गए थे। जेल से बेदाग रिहाई के बाद कुछ समय पहले उनकी मृत्यु हुई थी।

अब यह चन्द दिनों की बात है कि आदम अजमेरी अक्षरधाम आतंकी हमले में गिरफ्तार अन्य बेगुनाहों की तरह घर लौटेंगे। एक ऐसा शख्स जिसने अपने परिवार में फिर जीवित लौटने की आस छोड़ दी हो उसके लिए यह एक तरह से पुनर्जन्म है और वह निश्चित ही वह स्याह दौर को भूलना चाहेगा जिससे बीते ग्यारह सालों तक उसे गुजरना पड़ा और जिन्दगी में एक नयी शुरुआत करना चाहेगा। यह अलग बात है कि राज्य को मिले असीमित अधिकारों का प्रश्न बना ही रहेगा जो चाहे तो किसी भी निरपराध को आतंकवादी घोषित कर सकती है और उसके परिवार को ताउम्र कलंकित कर सकती है।

क्या अक्षरधाम आतंकी हमले में मासूमों को फंसाने वाले अधिकारी दंडित होंगे और क्या खुद राज्य सरकार अपने ही नागरिकों के साथ की गई इस ज्यादती को लेकर कम से कम खेद प्रगट करेगी।

वैसे चुनावी नतीजों और सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिक्रिया के बीच नजर आया यह विचित्र संयोग जिसका शासन के अपने इकबाल से ताल्लुक दिखता है। वह सूबा गुजरात के इसी अन्तराल के एक अन्य स्याह अध्याय की भी याद ताजा करता है। सभी जानते हैं कि आज की तारीख में राज्य में आईपीएस स्तर के कई वरिष्ठ पुलिस अधिकारी एवं उनके जूनियर सलाखों के पीछे बंद हैं क्योंकि राज्य के फर्जी मुठभेड़ों में उनकी संलिप्तता पाई गई है। भारत का यह एकमात्र राज्य होगा जहां कार्यपालिका से सम्बद्ध इतने अधिकारी सालों से सलाखों के पीछे होंगे।

मालूम हो कि चुनाव नतीजे आने के महज एक सप्ताह पहले, गुजरात सरकार को सुप्रीम कोर्ट में ही एक अन्य अपमानजनक झटके का सामना करना पड़ा था जब मुठभेड़ों में हत्याओं को लेकर समरूप दिशानिर्देश जारी करने की उसकी याचिका अदालत ने खारिज की थी। अदालत का कहना था कि 'भारत के संघीय ढांचे में ऐसी सलाह जारी नहीं की जा सकती। मुख्य न्यायाधीश आरएम लोढा, एमबी लोकुर और कुरियन जोसेफ की त्रिसदस्यीय पीठ ने कहा कि 'ऐसी सलाह पर अमल करना सम्भव नहीं होगा।'

दरअसल वर्ष 2012 में गुजरात सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय में यह जनहित याचिका दायर की थी कि विगत दस सालों में भारत में हुई फर्जी मुठभेड़ों को लेकर स्वतंत्र जांच की जाए और उसके लिए न्यायालय दिशानिर्देश तय करे। चाहे सोहराबुद्दीन फर्जी मुठभेड़ मामला हो, इशरत जहां मुठभेड़ का प्रसंग हो या सादिक जमाल की फर्जी मुठभेड़ में हत्या का मामला हो, यह सभी के सामने था कि ऐसे मामलों में राज्य एवं उसके अधिकारियों की बार-बार किरकिरी हो रही थी और इसी वजह से उसने यह दावा किया था कि यह निहित स्वार्थी तत्वों की वजह से हो रहा है जो चुनिन्दा ढंग से उसे निशाना बना रहे हैं। याचिका में यह प्रस्ताव था कि सभी राज्य सरकारों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों को यह दिशानिर्देश दिया जाए कि वह 'स्पेशल टास्क फोर्स/मानिटरिंग अथारिटी' जैसी स्वतंत्र एजेंसी का निर्माण करें ताकि तमाम फर्जी मुठभेड़ों की जांच हो सके।

ध्यान देने योग्य बात है कि अदालत में गुजरात सरकार इस मसले पर बिल्कुल अलग-थलग नजर आई, यहां तक भाजपा शासित राज्यों ने भी इस मसले पर गुजरात सरकार का समर्थन करने से इन्कार कर यह जताया कि ऐसे निर्देश भारतीय राज्य के संघीय स्वरूप पर आघात करते हैं।

चाहे सूबा गुजरात की फर्जी मुठभेड़ों का मामला हो या वर्ष 2002 में गुजरात के स्तब्धकारी दौर की बात हो, जब पूरे राज्य में अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसाचार हुआ था और जिसे लेकर पार्टी के वरिष्ठों ने भी राजधर्म न निभाए जाने की बात कही थी, यह बात सभी के सामने है कि जनाब मोदी प्रधानमंत्री के तौर पर अपनी पारी एक ऐसे अतीत के साथ शुरू कर रहे हैं, जो अध्याय जल्द समाप्त नहीं होने वाला है।

क्या वह अपने इस अतीत से रैडिकल विच्छेद कर सकेंगे और महज गुड गवर्नेंस के स्तर पर नहीं बल्कि जस्ट गवर्नेंस अर्थात् न्यायपूर्ण शासन को सुनिश्चित कर सकेंगे, यह सवाल भविष्य के गर्भ में छिपा है।

इस्लामिक आतंकवाद : क्या पुलिस व मुखबिरों की देन है!

■ सुभाष गाताडे

खबर आई है कि न्यूयॉर्क शहर के पुलिस विभाग ने अपनी विवादास्पद हो चुकी जासूसी इकाई -डेमोग्रेफिक यूनिट को अन्ततः बन्द करने का निर्णय लिया है जो मुस्लिम समुदाय को निशाना बना कर काम करती थी। न केवल उसके एजेंट मुस्लिम छात्र समूहों का हिस्सा बनते थे, मस्जिदों में अपने नुमाइंदों को भेजते थे, रेस्तरां, जिम या सैलून में जारी बातचीत को गुपचुप टेप करते थे और इसी के आधार पर सूचनाओं का विशाल भंडार संग्रहीत करने में लगे थे। सालों तक इन सूचनाओं को एकत्रित करने के बाद भी वह आतंकवाद को लेकर एक अदद मामले में सूत्र देने में नाकामयाब रहे।

इसे महज संयोग कहा जा सकता है कि बदनाम हो चुकी न्यूयॉर्क पुलिस की इस विवादास्पद योजना को लेकर निर्णय तभी सामने आया है जबकि हम तमिलनाडु पुलिस द्वारा 'आतंकवादी निर्माण' में निभाई भूमिका को लेकर नए तथ्यों से रूबरू हैं।

वैसे कितने लोगों को लालकृष्ण अडवानी की तमिलनाडु की 2011 की यात्रा में उनके रास्ते में बरामद किए गए पाइप बम का किस्सा याद है? मदुराई में हुई इस घटना को लेकर अल्पसंख्यक समुदाय के दो लोगों को पकड़ा गया था और तमिलनाडु पुलिस ने यह दावा किया था कि उसने इस्लामिक अतिवादियों के एक बड़े नेटवर्क का पर्दाफाश किया है। फिलवक्त तमिलनाडु की उच्च अदालत में सामने प्रस्तुत याचिका- जिसमें ऐसे तमाम बम धमाकों की उच्च स्तरीय जांच की मांग की गई है - पर तथा उसके लिए सबूत के तौर पर प्रस्तुत रिटायर्ड पुलिस अधीक्षक द्वारा भेजे गए गोपनीय पत्रों पर गौर करें तो एक अलग ही तस्वीर सामने आती है, जो मुस्लिम पुलिस मुखबिरों एवं गुप्तचर अधिकारियों के बीच मौजूद अपवित्र गठबंधन की तरफ इशारा करती है और उसी गठबंधन को इलाके में फैले इस्लामिक अतिवादी गतिविधियों का स्रोत बताती है।

गौरतलब है कि मदुराई जिले के पूर्व पुलिस अधीक्षक वी. बालाकृष्णन द्वारा इन गोपनीय पत्रों को डायरेक्टर जनरल ऑफ पुलिस और अतिरिक्त डायरेक्टर जनरल ऑफ पुलिस के नाम मार्च 2013 तथा अगस्त 2013 में अनुक्रम से भेजा गया था। अप्रैल माह के दूसरे सप्ताह में उच्च अदालत के सामने इन पत्रों को पेश किया गया। याचिकाकर्ता के वकील पीटर रमेश द्वारा मदुराई में सम्पन्न तमाम बम धमाकों के सीबीआई जांच की मांग की गई है। 29 मार्च 2013 को भेजे गए पत्र में पुलिस अधीक्षक ने सबूत पेश करते हुए कहा है कि किस तरह दो अभियुक्तों - सैयद वहाब, और इस्मथ- दोनों के खिलाफ अवनीयापुरम पुलिस स्टेशन ने फिरौती का मामला दर्ज किया था। और उसके चन्द रोज बाद ही इस मामले में भी उन्हें अभियुक्त बनाया गया। किसी विजय पेरूमल नामक हेड कांस्टेबल का उल्लेख करते हुए - जो मदुराई की सिटी इंटेलिजेंस विंग से जुड़ा है - पत्र में यह भी लिखा गया है कि किस तरह उसने वहाब के साथ मिल कर रियल इस्टेट के कुछ विवादास्पद मसलों में मध्यस्थता की थी और उन्हें निपटाया था।

पुलिस अधीक्षक ने अगस्त 2013 में एक अन्य गोपनीय पत्र अतिरिक्त डीजीपी को भी भेजा था जिसमें मंदिरों की इस नगरी में इस्लामिक अतिवादियों द्वारा कथित तौर पर बम रखने की घटनाओं की जांच में मुब्तिला स्पेशल इंवेस्टिगेशन टीम के एक इंस्पेक्टर के तबादले का विरोध किया गया था। याचिकाकर्ता के वकील का कहना था कि यह घटनाएं इसी बात का प्रमाण पेश करती हैं कि किस तरह भ्रष्ट अधिकारियों की मिलीभगत से ही ऐसी घटनाएं हो रही हैं और उन्हीं की दखलंदाजी के कारण असली मुजरिम पकड़े नहीं जा सके हैं।

निश्चित ही गुप्तचर अधिकारियों या पुलिस के लोगों द्वारा मुखबिरों के इस्तेमाल का यह कोई पहला प्रसंग नहीं है। याद कर सकते हैं कि मालेगांव 2006 का शबे-बारात के दिन का वह बम विस्फोट जिसमें कई निरपराध लोग मारे गए थे और इसके लिए जिम्मेदार

ठहराते हुए कई मुस्लिम युवकों को छह साल से अधिक वक्त जेल की सलाखों के पीछे गुजारना पड़ा था। इस पूरे प्रसंग में अबरार अहमद नामक एक व्यक्ति की गवाही सबसे अहम् मानी गई थी जो उस वक्त पुलिस के लिए काम करता था। बाद में उसने शपथपत्र देकर यह बताया कि किस तरह उसी ने इन लोगों को फंसाया है। इसके बावजूद उन निरपराधों को जेल से बाहर निकलने तथा उन पर लगाए गए मुकदमे समाप्त होने में दो साल से अधिक वक्त लगा था। एक क्षेपक के तौर पर यह बताया जा सकता है कि इस अपराध के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक असीमानंद तथा अन्य हिन्दुत्व आतंकवादियों पर मुकदमे कायम हो चुके हैं।

अभी पिछले ही साल प्रख्यात खोजी पत्रकार आशीष खेतान द्वारा 'डब्लूडब्लूडब्लू गुलेल डाट कॉम' पर प्रस्तुत रिपोर्ट भी महत्वपूर्ण है जिसमें इस बात का दस्तावेजीकरण किया गया है कि 'गोपनीय फाइलें इस तथ्य को उजागर करती हैं जिसका मुसलमानों को पहले से सन्देह रहा है : 'यही कि राज्य जानबूझ कर निरपराधों को आतंकवाद के आरोपों में फंसा रहा है।' जबकि इलाकाई मीडिया में या उर्दू मीडिया में इस रिपोर्ट को काफी अहमियत मिली मगर राष्ट्रीय मीडिया ने एक तरह से खेतान के इस खुलासे को नजरअन्दाज किया कि किस तरह आधा दर्जन के करीब आतंकवाद विरोधी एजेंसियों के आन्तरिक दस्तावेज इस बात को उजागर करते हैं कि राज्य जानबूझ कर मुसलमानों को आतंकी मामलों में फंसा रहा है और उनकी मासूमियत को परदा डाले रख रहा है। पत्रकार ने 'आतंकवाद केन्द्रित तीन मामलों की- 7/11 ट्रेन बम धमाके, पुणे; पुणे जर्मन बेकरी विस्फोट; मालेगांव धमाके 2006 जांच की है और पाया है कि इसके अंतर्गत 21 मुसलमानों को यातनाएं दी गईं, अपमानित किया गया और बोगस सबूतों के आधार पर उन पर मुकदमे कायम किए गए। और जब उनकी मासूमियत को लेकर ठोस सबूत पुलिस को मिले तब भी अदालत को गुमराह किया जाता रहा।'

हमारे अपने वक्त में सूबा गुजरात आतंकवादियों की बरामदगी के बारे में नये-नये रिकार्ड कायम कर चुका है। गुजरात पुलिस विभाग के डीआईजी बंजारा के नेतृत्व में तो ऐसे तमाम 'आतंकवादियों' को पकड़ कर पुलिस ने मार गिराया जिनके बारे में कहा गया कि यह लोग मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी और भाजपा के वरिष्ठ नेता लालकृष्ण अडवानी को मारने के लिए पहुंचे थे। बंजारा के कार्यकाल में नौ मुठभेड़ों में पन्द्रह लोग मारे गए थे। सोहराबुद्दीन शेख-कौसर बी के फर्जी एनकाउण्टर में सुप्रीम कोर्ट के हस्तक्षेप में जब विशेष कार्य बल ने जांच की तो यह बात सामने आई कि किस तरह मेडल और ट्राफियां बटोरने के लिए जनाब बंजारा और गुजरात एवं राजस्थान पुलिस के उनके समानधर्म अफसरों ने ऐसे कई काण्डों को अंजाम दिया था।

इन्हीं मुठभेड़ों में एक चर्चित किस्सा था मार्च 2003 में गुजरात पुलिस के हाथों मारे गए एक साधारण शख्स सादिक जमाल की मौत का जिसे 'लश्कर ए तोइबा' का आतंकवादी कह कर- जो कथित तौर पर मोदी, तोगडिय़ा और अडवानी को मारने के लिए पहुंचा था - गुजरात पुलिस द्वारा फर्जी मुठभेड़ में मार दिया गया था। जांच में पता चला कि मृतक के हाथों से जो पिस्तौल बरामद दिखाई गई थी वह .32 बोर की थी, जबकि इस पिस्तौल से कथित तौर पर जो गोलियां पुलिस पर चलाई गई थीं वे .38 बोर के पिस्तौल से निकली गोलियां थीं। मृतक के शरीर पर यातना दिए जाने के निशान मौजूद थे, उसके शरीर पर कुछ घाव भी बने थे जिन्हें बिना इलाज के छोड़ा गया था।

यह 90 के दशक के मध्य में महाराष्ट्र में कायम शिवसेना-भाजपा हुकूमत का किस्सा है जब पुलिस ने एक पाकिस्तानी एजेंट को पकड़ कर मीडिया के सामने पेश किया था और यह दावा भी किया था कि उपरोक्त व्यक्ति बाल ठाकरे की हत्या करने के लिए आया था। यह जुदा बात है कि इसी प्रेस कांफ्रेंस में मौजूद 'एशियन एज' के एक पत्रकार को यह बात याद रही कि इसी शख्स को कुछ ही दिन पहले ठाणे की स्थानीय अदालत में हत्या के एक मामले में अभियुक्त के तौर पर पेश किया गया था। अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए उसने पुलिस प्रवक्ता से इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न भी पूछे। लाजिमी था कि प्रवक्ता हक्का-बक्का रह गया था। बाद में इस मामले को गुपचुप दफना दिया गया और जनतंत्र का प्रहरी होने का दावा करने वाले मीडिया ने भी इस मसले पर खामोशी बरकरार रखी।

जलियांवाला बाग : लोकस्मृति और प्रासंगिकता का संदर्भ

■ लाल बहादुर वर्मा

इतिहास में जो भी घटा है उसकी अपनी अर्थवत्ता हो सकती है-होती है, ...पर उससे अधिक महत्वपूर्ण होता है उसकी स्मृति, यह कि समाज उसे कब, क्यों और कैसे याद करता है। यहीं प्रासंगिकता का संदर्भ और उसमें चेतना की भूमिका चिन्हित होती है। चेतना और प्रासंगिकता में द्वंद्वात्मक संबंध होता है। प्रासंगिकता चेतना से तय होती है और चेतना स्वयं प्रासंगिक को पचा कर प्रभावित होती रहती है। कोई भी व्यक्ति और समाज अपने वर्तमान के दबाव और आवश्यकता के अनुसार अपने अतीत से चेतन स्तर पर जुड़ता है और चूंकि ये दबाव और आवश्यकताएं निरपेक्ष और स्थिर नहीं होते, बदलते रहते हैं, अतीत के संदर्भ भी बदलते रहते हैं-स्मृति रूपी इतिहास (History as memory) ही नहीं पाठ्य रूपी इतिहास (History as Text) भी। यहां तक कि इतिहास की पुनर्व्याख्या और पुनर्लेखन होता रहता है। अतीत और वर्तमान के सतत संवाद में वर्तमान के बार-बार हावी हो जाने के कारण भी यही होता है। इसमें इतिहास की अवधारणा और पद्धति अर्थात् इतिहास में क्यों, और कैसे के प्रश्न निर्णायक बन जाते हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में यह मानते हुए कि इतिहास के अस्तित्व का मूल कारण (raison d'etre) यही है कि वह इतिहास निर्माण का आधार प्रस्तुत करे। और यह कि इतिहास निर्माण सारतः जन करता है, हम मौखिक इतिहास की अर्थवत्ता पर बल देना चाहते हैं। इसमें हमारी सबसे अधिक मदद करते हैं पाल टामसन जिनके अनुसार 'मौखिक इतिहास ने इतिहास की अंतर्वस्तु और लक्ष्य को ही बदल दिया है। जहां तक इस आरोप का प्रश्न है कि मौखिक इतिहास में वस्तुगतता नहीं होती, विकृति आ जाती है, इतना कहना ही पर्याप्त होगा, ब्रुग मैयार की मदद से, कि किसी न किसी प्रकार की विकृति तो हर इतिहास में होती है। मुख्य बात तो यह है कि मौखिक स्रोत इतिहास को वह पर्यावरण और रंग प्रदान करते हैं जो अन्य कहीं उपलब्ध नहीं। बोला गया शब्द इतिहास में प्राण वायु फूंक देता है।

इस प्रकार मौखिक इतिहास इतिहास की, मुख्यतः जन इतिहास की, अवधारणा और पद्धति को प्रभावित करता है जिसके कारण इतिहास वास्तव में इतिहास निर्माण का उपकरण बन जाता है।

यहां पर एक मुद्दे का ज़ायजा ले लेना गैर मुनासिब नहीं होगा। स्पीलबर्ग को उनकी फिल्म 'शिन्डलर्स लिस्ट' के लिए सर्वोत्तम निर्देशन का ऑस्कर प्रदान किया गया था। उनकी फिल्म टॉमस केनीली की चर्चित पुस्तक 'शिन्डलर्स आर्क' पर आधारित है। टॉमस ने कैसे लिखी यह किताब? उसकी मुलाकात संयोग से लिओपोल्ड प्फ़्रैबर्ग नामक यहूदी से हुई जो नात्सी जर्मनी में यहूदी जाति संहार से शिन्डलर नामक व्यक्ति की मदद से बच गया था। शिन्डलर ने जान पर खेल कर बहुत से यहूदियों की जान बचाई थी जिनमें से बहुत से जिन्दा बच गए थे। टॉमस ने उनमें से करीब 50 व्यक्तियों की सत्यकथा सुनी-और भी शोध किया और जन्मा एक उपन्यास-ऐतिहासिक, विश्वास और सरोकार से लबरेज़ एक ऐसा दस्तावेज़ जिसने मानव इतिहास के जघन्यतम अपराध और उसमें भी एक अत्यंत मानवीय हस्तक्षेप की स्मृति को ताज़ा और प्रासंगिक बनाए रखने में तमाम इतिहास ग्रंथों से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। अब उस पर दुनिया के सफलतम निर्देशक कहे जाने वाले स्पीलबर्ग ने फिल्म के माध्यम से संवेदनशील समाज की चेतना का द्वार खटखटाया है। ऑस्कर स्वीकार करते हुए भावोद्रेक में उन्होंने दिली ख्वाहिश ज़ाहिर की कि ऐसी घटनाएं इतिहास में फुटनोट न बन कर रह जाएं और वैसा नृशंस नरसंहार दोहराया न जा सके।

भारतीय मनीषा में जालियांवाला बाग कुछ-कुछ वैसे ही कौंधता है जैसे यहूदियों के तसव्वुर में आदमखोर हिटलरी भट्टियां। बहुत अच्छा और ज़रूरी होता कि जालियांवाला बाग को भी कोई केनीली और स्पीलबर्ग मिलता। पर भारत के इतिहास और साहित्य तब रूढ़ियों की कैद में थे-अकादमिक स्टीरिओ टाइप से अभी ही कहां पूरी मुक्ति मिली है? अब भी बहुत कुछ हो सकता है। प्रो. वी.एन. दत्ता ने जालियांवाला बाग के मौखिक स्रोतों का उपयोग कर एक अत्यंत महत्वपूर्ण काम किया हे। हमारा विनम्र प्रयास है कि लोक स्मृति में इस आपराधिक नर संहार की स्थिति को चिन्हित करते हुए उसमें प्रासंगिकता के संदर्भ पर प्रकाश डाला जाए। इसके लिए हमने मुख्यतः मौखिक स्रोतों का उपयोग किया है।

इस संबंध में हमें रास्ते पर लाने का काम किया है

इस मुहावरे ने- 'एक जालियांवाला बाग और'। एक उदाहरण है आज़ादी बचाओ आंदोलन द्वारा जारी एक पर्चा जिसका अंत एक शेर से होता हैः

मैकाले डायर मरे नहीं अब डंकल बन कर ज़िंदा है
देश गुलाम बनाने का, ये डाले फिर से फंदा हैं।

यह लोक स्मृति में नया संदर्भ जोड़ने का नया उदाहरण है।

इतिहास वही अतीत मात्र नहीं होता वैसा ही नहीं होता, जिसके बारे में, जैसा लिखा जाता है। इतिहास वह भी होता है जिसे व्यष्टि और समष्टि की स्मृति संजोए रखती है। यही स्मृति कोष जीवन को ढालता रहता है।

ऐसे में इतिहास की किसी खास घटना को हम क्यों याद करते हैं? वार्षिकी और जयंती मनाने के पीछे क्या तर्क हैं? हम मानें या न मानें-मान लें तो अच्छा, हम अतीत को वर्तमान के हित में लगाना चाहते हैं। एक काले कानून रॉलेट एक्ट और बर्बर नरसंहार जालियांवाला बाग की याद 75 वर्षो बाद हम क्यों ताज़ा करना चाहते है? इसलिए कि वहां से भारत के मुक्ति संग्राम की एक नई राह शुरू हुई थी, जिस पर वह भी चल पड़े थे जो अब तक तमाशाई थे? इसलिए कि स्वतंत्र भारत में भी बहुरूपिया रोलेट एक्ट मुंह चिढ़ाता घूमता है और बार-बार लोग यह कहने पर मजबूर होते हैं 'एक जालियांवाला बाग और'? या इसलिए कि लोग समझना चाहते हैं कि एक आज़ाद देश में राज्य का चरित्र वैसा ही क्यों दिखाई पड़ता है जैसा कि एक उपनिवेश में?

आखिर जालियांवाला बाग की अर्थवत्ता क्या है? हम उसके किताबी वजूद से हट कर उसकी ज़िंदा असलियत का जायज़ा लेंगे इस देश के कुछ आम लोगों की जुबानी। लेकिन उसके पहले सूत्रवत यह देख लें कि दरअसल जो हुआ वह एक हादसा था, एक सिरफिरे का पागलपन था या वह सामराजी निज़ाम का जुज़ था?

प्रथम विश्वयुद्ध में सारे हिन्दुस्तान ने ब्रिटिश सरकार की दिल खोल कर मदद की थी कि शायद एहसानफरामोश हुकूमत भी एहसान माने। लेकिन कहर बरपा हुआ औरवहीं सबसे ज्यादा जहां के लोगों ने सबसे ज़्यादा खून (Highest Blood Tax) दिया था। और फिर इतना खून बहाने की जरूरत भी नहीं थी। विरोध प्रदर्शन के लिए जुटी बैसाखी की भीड़ बहुत थोड़े शक्ति प्रदर्शन पर खिसक जाती। कानून और व्यवस्था का तर्क एक पुराना औपनिवेशिक तर्क है और यह पैमाना अक्सर छलकता रहता है। आततायी डायर की आलोचना तक नहीं हुई। आखिर भारत में ब्रिटिश राज्य के संस्थापकों में से एक वारेन हेस्टिंग्स पर इंग्लैंड में ही महाभियोग लगा था और इसने इस देश में आंग्लप्रियता के आधार को मजबूत किया था। पर वह औपनिवेशिक सत्ता के शुरुआती दिन थे। अब वह मदहोश और उद्धृत हो चुकी थी। बहुत स्वीकार किया तो मांटेग्यू ने उसे निरोधक हत्या कह कर टाल दिया। और नहीं तो डायर प्रशंसित और पुरस्कृत हुआ। कमीशन ने एक फर्ज अदायगी मात्र की। कांग्रेस द्वारा नियुक्त कमीशन ने शासन द्वारा डाली गयी तमाम अड़चनों के बावजूद इस कुकृत्य को नंगा किया तो ब्रिटिश सरकार ने उसे अनदेखा कर दिया। इसने भारतीय समाज को बेहद अपमानित किया। टैगोर को इस अपमान ने ही 'सर' का खिताब लौटाने पर आमादा किया। बहुतों के सीनों में यह अपमान की आग सुलगती रही और जब ऊधम सिंह ने ओ डायर की जान ले ली तो बहुतों ने मानो ठंडी सांस ली। कभी-कभी प्रतिहिंसा मुक्तिदायी प्रतीत होती है।

आज क्या कुछ शेष है स्मृतियों में? विभिन्न कारणों से भारत के मुक्ति संग्राम के दौरान की असंख्य घटनाओं में आज भी लोग जालियांवाला बाग की घटना को सबसे अधिक जानते हैं-भले उसके विस्तृत विवरण से परिचित न हों। जितना कुछ लोगों को पता है उसमें जो कुछ समान है उसे ही समष्टि की स्मृति कहा जा सकता है और वह है भारतीयों की असहायता और ब्रिटिश सरकार की बर्बरता-गुलामी का एहसास और सबसे ज्यादा राजकीय आतंकवाद। यह संयोग नहीं कि उसी समय लेनिन ने इसे अंग्रेजों का नृशंस आतंकवाद (Brutal terrorism of the British) करार दिया था।

भारतीय जन की प्रतिक्रिया साहित्य और लोक साहित्य में दर्ज है- असंख्य उदाहरण हैं। यहां तक कि मनोरोग तक पहुंचे और पहुंचाने वाले फिल्म संगीत में आज तक लोकप्रिय गीत 'आओ बच्चों तुम्हें दिखाएं झांकी हिंदुस्तान की' में 'जालियांवाला बाग वो देखो जहां चली थीं गोलियां' की ध्वनि खून में थोड़ी रवानी भर देती है। फिल्म जगत से ही एक और सशक्त उदाहरण एटनबरो की फिल्म गांधी में जालियांवाला बाग के कुछ फ्रेम है। एक सामाजिक कार्यकर्ता के अनुसार (जिसने वह फिल्म 14-15 वर्ष की उम्र में देखी थी) जालियांवाला बाग की याद आते ही वह बेबसी के अहसास से भर जाता है, वह स्वयं भी भागता हुआ महसूस करता हैं

प्रसिद्ध हिंदी आलोचक डॉ. राम विलास शर्मा ने 1947 के पहले राजनीतिक चेतना से लैस उत्प्रेरक कविताएं भी लिखी थीं। हिंदी साहित्य में जालियांवाला बाग की स्मृति के उदाहरण के लिए एक ही उद्धरण काफी होगा। 14 सितंबर 1947 को प्रकाशित उनकी कविता का शीर्षक है 'गर्म खून से तर होकर रोता है जालियांवाला बाग'। कविता का एक पद है :

लपटों की छाया में रो रोकर बहती है रावी
'आज़ादी' की कसम यहीं खायी कहती है रावी

कहती है सतलज चिनाब से 'क्या फिर डायर आया?
भगत सिंह के शव को किसने फिर से जलाया?
गरम खून से तर होकर रोता है जालियांवाला!

आज पंचनद की धरती पर धधक उठी है ज्वाला!!

ज़ाहिर है विभाजन की विभीषिका की पृष्ठभूमि में जालियांवाला बाग की स्मृति का संदर्भ बदला हुआ था।

हम किसी चश्मदीद गवाह या भुक्तभोगी से तो नहीं मिल सके लेकिन ऐसे व्यक्ति से ज़रूर मिल सके जिन्होंने 15 साल की उम्र में राही मासूम रजा के जिले गाजीपुर में राजनीति में चिट्ठी-पत्री पहुंचाने के काम से हिस्सेदारी शुरू कर दी थी। असाधारण स्मृति के धनी पब्बर राम को पिछले 65-70 साल की राजनीति के महत्वपूर्ण तथ्य अच्छी तरह याद हैं। इसका एक प्रमाण है 1953 में स्वतंत्रता संग्राम पर गाजीपुर में आयोजित राजकीय प्रदर्शनी में उन्होंने 'तथ्यगत-भूलों और राजनीतिक पक्षधरता के संबंध में तत्काल अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया था। उन्हें सबसे पुरानी याद 1938 के कांग्रेस अधिवेशन की है जिसमें एक पर्चा बंटा था। उस पर्चे में छपी कुछ पंक्तियां उन्हें आज भी याद हैंः

जालियांवाला बाग में किसने बे कारण ही फायर की
दिल दीवारों के भी धड़के देख क्रूरता डायर की
चीखती है अब भी रात समय हर एक आत्मा घायल की
जुल्म कहां तक बयां करूं इस जाति फिरंगी कायर की

उन्हें कुछ-कुछ जोश मलीहाबादी की एक ग़ज़ल का एक शेर याद आता है :

ज़हन में हो रहा ताज़ा हिन्दियों का दाग़ भी
याद तो होगा तुम्हें जालियां वाला बाग भी।

उन्हें ख्याल आता है कि उस समय चर्चा थी कि मारे गए लोगों में सबसे छोटा लड़का मदन गोपाल था। पोस्टमार्टम में गोली उसके कलेजे से निकाली गयी थी। इसे याद कर कई गीत गाये जाते थे। जैसे

जालियांवाला बाग में जूझा मदन गोपाल
कलेजे बीच गोली निकली
सर बांधे कफ़निया शहीदों की टोली निकली
....
पाज़ी डायर के फायर से भूमि हो गयी लाल
जालियांवाले बाग में जूझा भाई मदन गोपाल
सर बांधे कफनिया शहीदों की टोली निकली

उनके अनुसार आपस में लोग इसकी चर्चा करते ही रहते थे कि इसका बदला लिया जाना चाहिए। यह पूछने पर कि वह तो उस समय कांग्रेस के प्रभाव में थे तो क्या गांधी जी के अनुयायी भी बदले की भाषा बोलते थे। वह निस्संकोच कहते हैं 'नहीं, कांग्रेसी नहीं' ऐसे में जब ऊधम सिंह ने ओ डायर को मारा तो जालियांवाला बाग नये सिरे से चर्चा में आ गया। उनके ख्याल से जालियांवाला बाग की घटना ने 'सारे देश को जगा दिया, एक नयी ज़िंदगी आ गयी।'

उनकी याददाश्त परखने के लिए जब उनसे इस हत्याकांड का विवरण देने को कहा गया तो इस तरह बोलने लगे जैसे कोई महत्वपूर्ण किताब पढ़ रहे हों। इस संबंध में उन्होंने दो बड़ी महत्वपूर्ण बातें बताई :

1. गाज़ीपुर में आंदोलन में लगे लोगों की विशेषता थी कि चाहे वह कांग्रेसी हों चाहे क्रांतिकारी चाहे मुस्लिम लीगी चाहे किसान सभाई सभी इस घटना का जिक्र 'शिद्दत' से करते थे और राजनीतिक परिचर्चा के बीच इस घटना की याद सदैव बनी रहती थी।
2. दस वर्ष के बाद जब लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो लौटते समय गाजीपुर के गजानंद बाबू और आजमगढ़ के अलगू राम शास्त्री जालियांवाले बाग की मिट्टी साथ लेकर आए। मिट्टी उस समय भी लाल थी (यह सब बताते वक्त श्री पब्बर आवेग में थे और आंखें भर-भर आती थीं)। सबसे अपमानजनक बात तो यह हुई कि जब वह यहां से गया तो उसे पुरस्कृत किया गया। इससे 'बहुत घृणा' हुई। यह कहते हुए उनके चेहरे से घृणा के भाव टपकने लगते हैं कि बजाय साला डायर को दंड देने के उसे इस तरह सम्मानित किया जाता है। (साक्षात्कार के दौरान एकदम संतुलित और शिष्ट भाषा का सहज प्रयोग कर रहे पब्बर भाई पहली और अंतिम बार गाली का इस्तेमाल करते हैं।) उनके अनुसार एक तरफ तो बदला लेने की भावना उठी दूसरी तरफ इंग्लैंड के लोगों के प्रति भयानक किस्म की घृणा... कितने पतित हैं यहां के लोग जो यह कहते थे ब्रिटिश समाज में बड़ा समाजवाद है वहां जेंटिलमैन लोग रहते हैं वे ही एक जालिम व्यक्ति को पुरस्कृत कर रहे हैं। महिलाओं ने तो उसे चांदी की तलवार भेंट की थी तो इससे यह पता लगा कि यह कौन सा समाज है? घृणा ही हुई-कि यह सब ढोंग है यह कहना कि ये लोग जनतांत्रिक हैं कोरी बकवास है।'

अंत में उन्होंने स्मृति को आज के हालात से जोड़ते हुए कहाः 'ऐसी हुकूमत को मिटा देना चाहिए जिससे ऐसी घटना की पुनरावृत्ति न होने पावे, बेगुनाहों का खून न बहे। इतिहास को याद करते हुए हॉलीवुड और ग़ाज़ीपुर से एक तरह का सरोकार।

आज जन की स्मृति में जालियांवाला बाग कई कारणों से अविस्मरणीय है :

1. सबसे पहले गुलामी का अहसास कराता है-असहायता का और इसलिए मुक्ति के महत्व को चिन्हित करता है। सामान्य विद्यार्थी से परिपक्व नागरिक तक हम सभी यही सोचते हैं कि ऐसा इसलिए हुआ कि 'हम गुलाम थे।' इससे एक तरफ तो गुलामी से जुड़ी बेबसी

और अपमान उजागर होते हैं दूसरी ओर घृणा की ओर अग्रसर आक्रोश फुंफकारने लगता है। वहीं से जन्म लेती है प्रतिहिंसा की भावना जो दुधारी तलवार सिद्ध हो सकती है। अधिकांशतः आज भी लोग ऊधम सिंह द्वारा अपमान का बदला लेने पर खुशी ज़ाहिर करते हैं। पर अपमान की स्मृति से उपजी प्रतिहिंसा घातक भी हो सकती है इसका भी अहसास लोगों को होने लगता है। गुस्से और नफरत से जुड़ी यादें इतिहास में जब नकारात्मक शक्तियों की सेवा में जुटती हैं तो विध्वंसक हो जाती हैं पर यदि आक्रोश और घृणा पक कर सार संकलन के सहारे सृजनात्मक बन गयी तो इतिहास को गति देती है। यह इससे तय होता है कि आत्मगत शक्तियां सामाजिक स्मृति को कौन सी दिशा देती है।

2. दूसरा भाव यह उजागर होता है अंग्रेजों के सारे जोरो जुल्म के बावजूद कहीं न कहीं भारतीय समाज को उनकी बर्बरता और अन्याय प्रधानता पर आश्चर्य होता रहा है जैसे यह कहना चाहते हों कि उनसे यह उम्मीद नहीं थी।' भारत का नेतृत्व वर्ग तो अंत तक ब्रिटिश नेकनीयती पर भरोसा करता रहा था। यह इस बात का भी सूचक है कि किसी व्यवस्था की मूल अनिवार्यता और प्रकृति को निर्णायक न मान कर व्यक्तियों और उनके आचरण के सहारे उसका मूल्यांकन करना कितना भ्रामक हो सकता है। अन्यथा डायर ने उस समय जो किया वह न तो उत्पीड़क और उद्धृत तंत्र का पहला परिचय था न अंतिम।

3. कीमत एक बड़ी कारक शक्ति है। अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी से इतिहास के मूल्यांकन तक हम कीमत की कसौटी पर चीज़ों को परखते रहते हैं। इस संदर्भ में एक सामान्य शिक्षिका की राय बहुत प्रतिनिधिक है। उनके अनुसार 'यही सब होना था तो जालियांवाला बाग जैसी कीमत चुकाने से फायदा।' यह एक सबसे सामान्य प्रतिक्रिया होती है सामान्य जन ही नहीं विशिष्ट लोगों की भी कि जब वह वर्तमान से असंतुष्ट होते हैं तो आज़ादी की लड़ाई का हवाला देकर आज की लानत मलामत करते हैं।' यह स्वाभाविक भी है और इतिहास के निरंतर संदर्भित होते रहने का एक सामान्य उदाहरण भी।

4. यहीं आ खड़ी होती है एक झकझोर देने वाली तुलना। बंबई के दंगों के बाद वहां से उजड़ कर फतेहपुर के दूरदराज के एक गांव में सांप्रदायिक समन्वय का प्रयास कर रहे 'बाबा जी' की राय में थोड़ा व्यंग्य का पुट है जब वह कहते हैं शासकों के नज़रिये से शायद वही ठीक था। वह बंबई और सूरत में जो हुआ उसकी बात करते हुए थोड़ा उत्तेजित हो जाते हैं-कहते हैं 'इस सबके आगे जालियांवाला बाग फेल है।'

इस प्रकार आज के अन्याय, जुल्म और उत्पीड़न से जुड़ कर जालियांवाला बाग एक मुहावरा बन गया है। अतीत का कोई अंश जब मुहावरा बन जाता है तो वह सार-संकलित इतिहास बोध की तरह काम करता है।

पहले जालियांवाला बाग एक व्यक्ति से जुड़ा फिर एक सरकार से फिर एक व्यवस्था से। आज डायर का अंग्रेज होना और तत्कालीन सरकार का औपनिवेशिक होना महत्वपूर्ण नही रहा। लोक स्मृति में दर्ज है जन विरोधी उत्पीड़न और जहां भी ऐसा होता है लोग जालियांवाला बाग से उसे जोड़ देते हैं। ऐसे में विवरण और तथ्य हाशिये पर चले जाते हैं। बच जाता है सारा तत्व और वही लोक स्मृति की थाती बन उद्वेलित, उत्तेजित तथा उत्प्रेरित करता है, संदर्भ और प्रसंग के अनुसार लोक स्मृति की इस संदर्भ में पड़ताल के दोरान एक और तथ्य उभर कर सामने आया। एक व्यक्ति ने कहा कि पहले ऊधम सिंह द्वारा बदला लिये जाने की याद कर 'खून में उबाल' आ जाता था। अब वह सब रूमानी लगता है। जालियांवाला बाग की मिट्टी की कसम खाकर ऊधम सिंह ने एक व्यक्ति का खून कर दिया उससे क्या होता है और उसी की कसम खाकर भगतसिंह ने देश को आज़ाद करने का बीड़ा उठाया जो ज़्यादा सही और बड़ा काम था।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि लोक स्मृति केवल सूचनाओं का संग्रह नहीं करती, केवल उनका ज्ञान में रूपांतरण नहीं करती बल्कि उसका संदर्भ, प्रसंग के हिसाब से चेतना और सरोकार के आधार पर विवेक के रूप में भी प्रयोग कर सकती है। अतीत मानव स्मृति में निरपेक्ष रूप से नहीं दर्ज होता। तब वह इतिहास बनेगा भी नहीं। अतीत की ग्राह्यता और स्वीकार्यता के निर्धारक और बहुत से तत्व होते हैं इसलिए स्मृति भी कोई शाश्वत, निस्पृह और निरपेक्ष चीज़ नहीं होती-लोक स्मृति तो और भी नहीं।

इस प्रकार जालियांवाला बाग के माध्यम से लोक स्मृति और प्रासंगिकता का संदर्भ स्पष्ट होता है और दूसरी ओर लोक स्मृति के माध्यम से जालियांवाला बाग का सार तत्व संप्रेषित होता है। साथ ही स्पष्ट होता है लोक और इतिहास का संबंध। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें वस्तुगत स्थिति में आत्मगत हस्तक्षेप का प्रश्न, उसके विभिन्न रूप और प्रभाव, उभरता है और ज़रूरी लगने लग सकता है। यहीं से स्पष्ट हो सकती है इतिहास निर्माण में इतिहास बोध की अनिवार्य भूमिका।

इतिहास से साभार

पंचायती राज : सारी सत्ता समुदाय को

■ राजीव लोचन साह

भारत जैसे विशाल देश की बहुविध समस्याओं का कोई रेडीमेड समाधान नहीं हो सकता। लेकिन रामबाण जैसी दवाई यदि है तो वह शायद सत्ता का संपूर्ण विकेंद्रीकरण और पंचायती राज ही होगी। दिक्कत यह है कि यह दवाई निगलने में बहुत अधिक कड़वी लगती है।

जरा सोचें कि वह पंचायती राज,... नहीं ग्राम गणराज्य कहना ज्यादा उचित होगा, है क्या...

गांव का स्कूल टूटा-जर्जर है। जो बजट पंचायत के लिए आया था वह तो पानी की टंकी बनाने की मद में था। उससे स्कूल की छत भला कैसे ठीक की जा सकती थी? लिहाजा स्कूल की मरम्मत तो हुई नहीं, जबरन जो टंकी बनायी गयी वह सालभर में बेकार हो गयी। क्योंकि बजट का चालीस प्रतिशत तो बी.डी.ओ. साहब के हाथ में रखना ही था, तो फिर लगे हाथों बीस प्रतिशत प्रधान जी भी खा गये। अब जब साठ प्रतिशत खाने-पीने में ही निकल गया तो टंकी क्या खाक बनती! ... पहाड़ी ढलानों पर खड़ंजे बिछाना खतरनाक होता है। बरसात में काई जम जाती है तो जाड़ों में पाला फिसलन पैदा कर देता है। चलने में अच्छी-खासी स्केटिंग हो जाती है और हाथ-पांव टूटने का खतरा लगातार बना रहता है। लेकिन पंचायत क्या करे? बिछाने तो खड़ेंजे ही पड़ेंगे, क्योंकि यह तो राजधानी में तय कर लिया गया है कि सारे प्रदेश में खड़ंजे बिछाये जाएं।... उधर इंटरमीडिएट कॉलेज में विज्ञान विषय खुलवाने की जनता की मांग काफी दिनों से चली आ रही है। लेकिन सरकार में कोई कान ही नहीं देता।... प्राथमिक चिकित्सा केंद्र में कई सालों से कोई डॉक्टर नहीं है। एक डॉक्टर नियुक्ति के वक्त दस्तखत करने आया था। अब नहीं आता। सुना है उसे तनख्वाह बराबर मिल रही है। उसे नियुक्ति राजधानी में बैठे मंत्री-अधिकारी ने दी थी। वहां उसकी सैटिंग है। वह गांव में आये न आये, क्या कर लेगी जनता?... शराब ने जनजीवन को तबाह कर दिया है। लेकिन सरकार को शराब से राजस्व मिलता है। अतः लोग चाहें न चाहें, सरकार हर साल शराब की नई-नई दुकानें खुलवा देती है।... सुन्दर प्राकृतिक दृश्यावली वाली, मोटर सड़क से लगी तमाम ज़मीनें बाहर से आये बिल्डरों ने खरीद ली हैं। लोगों को चिंता है कि इस प्रवृत्ति से स्थानीय संस्कृति विकृत होगी। लेकिन कुछ कर पाने में वे असमर्थ हैं।... ग्रामीणों को हक-हकूक की लकड़ी तो नहीं मिल पा रही है और सरकार बांध व अन्य जीव विहार बनाने के लिए उनकी समूची जमीन लेना चाहती है। जमीन पर सैंकड़ों सालों से बसे लोग अपनी जमीन छोड़ने को राजी नहीं हैं। लेकिन सरकार के आगे उनकी कैसे चले?... एन.जी.ओ. गांव में न जाने क्या-क्या कर रहे हैं। पता ही नहीं चलता। उनसे कौन पूछे?

उत्तराखंड में जहां कहीं जाओ, सर्वत्र यही शिकायतें सुनने को मिलती हैं।

इन समस्याओं का एक हद तक हल यदि संभव है तो पंचायती राज में ही। मगर जब भी हम यह बात कहने लगते हैं, लोग झट से हमें टोक देते हैं, 'अरे आप भी पंचायतों की बात ले बैठे। **सारे सभापति तो खुद ही चोर हैं।' उनका कहना झूठ भी नहीं है। आज की पंचायतों में शायद ही कोई ग्राम प्रधान ईमानदार हो। वह ईमानदार हो भी नहीं सकता। यदि ईमानदार होगा तो निष्क्रिय होकर घर बैठ जाएगा। उसे तो दिल्ली और देहरादून से गांव तक जो लूट का जो सर्वव्यापी तंत्र फैला है, उसका निम्नतम पुर्जा बनना ही होगा।** उसे अपने समाज का दुश्मन और प्रशासन तंत्र का हिस्सा बनना होगा, तभी वह अपने को बचाये रह सकता है। **दरअसल हमारी सरकार द्वारा लागू मौजूदा पंचायती राज पूरी तरह विकृत और समाज तोड़क है।** राष्ट्रीय राजनैतिक दलों ने गांव के भीतर तक घुस कर परिवारों में फूट डाल दी है। एक बेटा कांग्रेसी है तो एक भाजपाई। पत्नी प्रधान है और उसके नाम पर पति सारे कामकाज करता है। गांव में विकास कार्य के नाम पर लाखों रुपये खर्च हो जाते हैं, मगर गांव में कानोंकान किसी को खबर नहीं लगती। प्रधान जी बी.डी.ओ. के साथ मिल कर कागजी खानापूर्ति कर देते हैं। बैठक की कार्यवाही से लेकर ऑडिट तक हर चीज कागजों में दुरुस्त हो जाती है। ठेकेदारी करने के लिए ही प्रधानी झपटी जाती है, तो ठेकेदारी चली जानी चाहिए, बाकी से क्या मतलब? समाज जाए भाड़ में!

इस पंचायती राज को बदलने के बारे में बातचीत न होती हो, ऐसा नहीं है। खूब बहस की जाती है। लेकिन बदलाव का मतलब छिटपुट-जोड़ घटाने से ही लगाया जाता है। यहां दाग-धब्बे मिटा दो, वहां थोड़ा रंग लगा दो! सारी बहस इस मुद्दे पर सिमट कर रह जाती है कि पंचायतों में महिलाओं के लिए आरक्षण कितना होना चाहिए और दलितों के लिए कितना। बैठकें साल में कितनी बार होनी चाहिए। कोरम कितना होना चाहिए। पंचायतों का सशक्तीकरण कैसे किया जाना चाहिए!

सही बात तो यह है कि पंचायतों को किसी सशक्तीकरण की जरूरत नहीं हैं। आप सारी ताकत एक ही झटके में उठा कर उन्हें सौंप दें बस। क्या भारत को आजादी देते वक्त अंग्रेजों ने यह कहा था कि पहले हम आपको संसदीय लोकतंत्र का ककहरा सिखाएंगे और तब जाकर सत्ता सौंपेंगे? हम नालायक ही सही, पर अपने देश के लोकतंत्र को जिंदा रखे ही हैं। फिर पंचायती राज कैसे नहीं चला

पाएंगे? यह तो हमारी परंपरा में है। अंग्रेजों ने आकर इस परंपरा को तहस-नहस किया। उसे पुनर्जीवित ही तो करना है। सशक्तीकरण का क्या मतलब?

पंचायत के मामले पर बहुत गंभीरता से सोचने की जरूरत है। शुरुआत इकाई से करें। समाज की सबसे बुनियादी इकाई व्यक्ति है और फिर परिवार। उसके ऊपर गांव आता है। शहरों में देखें तो गांव के स्थान पर मोहल्ला कह सकते हैं। एक गांव या एक मोहल्ले में जो परस्परता होती है, जैसे-जैसे समाज की सीढ़ियां चढ़ते रहे वह कम होती जाती है। अतः पंचायती राज या ग्राम गणराज्य की मूल इकाई गांव ही हो सकता है। गांव का मतलब है तोक गांव। तथाकथित 'राजस्व गांव', जिसमें शासन-प्रशासन की सुविधा के लिए एक से अधिक गांवों को एक अधिसूचना से जोड़ दिया जाता है, ग्राम गणराज्य के रास्ते में एक बहुत बड़ा अवरोध है। **एक जबरन बनाई गई इकाई में वह समरसता हो ही नहीं सकती, जो स्वयंभू इकाई में होगी।** प्रायः देखा जाता है कि एकदम आसपास के गांव में भी कुछ बड़े अंतर्विरोध मिल जाते हैं। तोक गांव में वे नहीं होंगे। होने को एक तोक गांव के भीतर भी दिक्कतें होती ही हैं। घर के झगड़े घर के भीतर निपटाये जाते हैं तो गांव के भीतर के झगड़े भी गांव के भीतर ही सुलझाये जाने चाहिए। यदि आप घर के झगड़े घर में नहीं सुलझा सकते, गांव के झगड़े गांव के भीतर नहीं निपटा सकते तो चल गया समाज! समाज नाम की यह व्यवस्था तो फिर बची नहीं रह सकती। कम से कम वायरस की तरह फैलती घटिया राजनीति तोक गांव की परस्परता को आसानी से तबाह नहीं कर सकती, यह तय है। अतः 'राजस्व ग्राम' यानी राज्य सरकार की अधिसूचना द्वारा घोषित गांव या गांवों के समूह' को नहीं बल्कि इन परंपरागत तोक गांवों को ग्राम सभा का आधाार बनाया जाना चाहिए, चाहे उनकी आबादी पचास हो या पांच हजार। यह ग्राम गणराज्य का पहला सिद्धात होना चाहिए।

फिर ग्राम सभा के अधिकार की बात आती है। 'उ.प्र. पंचायत अधिनियम' में दर्ज है कि 'पंचायत ग्राम सभा के सुझावों पर विचार करेगी पर इन्हें मानने के लिए बाध्य नहीं है।' यह बात हास्यास्पद और अत्यंत आपत्तिजनक है। लोकतंत्र में जनता सबसे बड़ी होती है। अब चूंकि एक अरब लोक संसद में नहीं बैठ सकते, अतः प्रतिनिधित्व के नियम से कुछ लोग वहां भेज दिये जाते हैं। वे हमारी ही बात कहने वहां गये होते हैं। लेकिन कुल मिला कर वे अपनी जनता से बड़े नहीं हो सकते। इसी तरह ग्राम सभा, जिसमें उस ग्राम के सभी व्यस्क व्यक्ति शामिल हों, पंचायत से हर हाल में बड़ी होगी। पंचायत को उसका आदेश सर आंखों पर रखना ही होगा। चूंकि गांव के सारे व्यस्क हमेशा हर समस्या से जूझने के लिए एक साथ नहीं बैठ सकते, इसलिए प्रतिनिधित्व के नियम के अनुसार पंचायत की व्यवस्था होती है। सबसे आदर्श स्थिति तो यह होगी कि सरकार की अधिसूचना से नहीं, बल्कि ग्राम समाज की जरूरत से पंचायतों का गठन हो। गांव से जब लोग जरूरत समझें अपने में से योग्य और अनुभवी लोगों को चुनकर पंचायत बना लें। सबसे ज़्यादा योग्य और व्यवहार कुशल व्यक्ति को, जो सबसे ज्यादा समय समाज को देने की स्थिति में हो, सभापति बना लें। और अगर पाये कि सभापति तो ज्यादा होशियार निकल आया। काम करने करवाने के बीच कमीशन भी खाने लगा है, तो कान पकड़ कर उसे किनारे बैठा दें और नया सभापति चुन लें। इस चयन प्रक्रिया में सरकार की भूमिका जितनी कम हो उतना अच्छा है। क्योंकि ग्राम प्रधान और पंचायत को अंततः अपने समाज के प्रति जवाबदेह बनाना है, न कि सरकारी तंत्र को। जब तक ऐसा नहीं होगा, पंचायत का होना न होना बराबर है। पंचायतें ग्राम सभा के नियंत्र में उसके निर्देशों के अनुरूप काम करें और उसके प्रति पूरी तरह जवाबदेह हों। ग्राम प्रधान पंचायत का कार्यकारी अंग मात्र हो और पंचायत सचिव से लेकर जिलाधिकारी तक तमाम कर्मचारी-अधिकारी सिर्फ कार्य पूरा करने वाले नौकर की भूमिका में हों। ग्राम सभा के अधिकार क्षेत्र में उनका कोई दखल न हो। ग्राम गणराज्य की सफलता के लिए यह दूसरी शर्त है।

इसके आगे का रास्ता 1992 में किये गये संविधान के 73वें और 74वें संशोधनों ने काफी हद तक साफ कर दिया है। कई बार आश्चर्य होता है कि पिछले पचास सालों में, जब लोकतांत्रिक मूल्यों का लगातार क्षय होता रहा, एक चमत्कार की तरह ये संशोधन कैसे आ गए होंगे। इनका असली महत्व अभी जनसाधारण की नजरों से ओझल है। दरअसल निहित स्वार्थों ने इन्हें समझने-समझाने में जानबूझकर कोताही की। संविधान की 11वीं अनुसूची में ग्राम सभाओं के लिए 29 तथा 12वीं अनुसूची में नगर निकायों के लिए 18 ऐसे विषय रखे गये हैं जिन्हें वे कर सकते हैं। अर्थात् अब यदि मौका दिया जाए तो पंचायतें कृषि, भूमि विकास, लघु सिंचाई, पशुपालन, दुग्ध उद्योग, मत्स्यपालन, लघु उद्योग, ग्रामीण आवास, सड़क, पुल, जलमार्ग, विद्युतीकरण, गैर-पांरपरिक ऊर्जा, गरीबी उन्मूलन, माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा, तकनीकी प्रशिक्षण, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक क्रियाकलाप, हाट-बाज़ार, महिला और बाल विकास, समाज कल्याण, सार्वजनिक वितरण प्रणाली जैसे तमाम कार्य कर सकती हैं। इन संशोधनों में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक राज्य का एक वित्त आयोग होगा, जो यह तय करेगा कि पंचायतों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए राज्य को प्राप्त राजस्व को कितना हिस्सा पंचायतों को दिया जाए। यानी राज्य सरकार में समुचित इच्छा शक्ति हो और राज्य वित्त आयोग ठीक समझता हो तो राज्य के कुल प्राप्तियों का साठ प्रतिशत सीधे पंचायतों को दिया जा सकता है। यदि पंचायतों को 11वीं और 12वीं अनुसूची में वर्णित सभी विषय सौंप दिये जाएं और राज्य वित्त आयोग पर्याप्त धन उपलब्ध करा देते हैं तो फिर अधिकांश काम स्थानीय स्तर पर हो जाएंगे और राज्य स्तरीय भीमकाय निगमों और विभागों की जरूरत ही खत्म हो जाएगी। जब स्कूल भी पंचायत को चलाना है, अस्पताल भी; सड़क भी पंचायत को बनवानी है और बिजली भी पंचायत ने लगवानी है तो फिर बड़े-बड़े विभागों की क्या

जरूरत? लेकिन यहीं से झगड़े भी शुरू होने लगते हैं। सरकारी कर्मचारी एक संगठित ताकत हैं। इस तरह के विकेंद्रीकरण से वे बहुत खुश नहीं हो सकते। समाज मे आमूलचूल परिवर्तन की बात तो उनकी छोटी सी समझ में आ नहीं सकती मगर अपने तात्कालिक नुकसान से वे क्षोभ में अवश्य आ सकते हैं।

संविधान के भाग 9; अनुच्छेद 243 बी में हर राज्य में ग्राम, मध्यवर्ती तथा जिला स्तर पर पंचायतें गठित करने की व्यवस्था है। इसी तरह भाग 9अ; अनुच्छेद 243 क्यू में ग्रामों से शहर की ओर संक्रमित होने वाले इलाकों के लिए नगर पंचायत, छोटे नगरीय क्षेत्र के लिए नगरपालिका तथा बृहत्तर नगरीय क्षेत्रों के लिए नगर महापालिकाओं के गठन का प्रावधान है। संविधान के इस हिस्से पर राज्य सरकारों ने ध्यान देने की कोशिश ही नहीं की है। क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में कौन सा इलाका संक्रमणशील है, कौन सा छोटा नगरीय क्षेत्र है और कौन सा बृहत्तर नगरीय क्षेत्र है, इसकी न तो परिभाषा राज्य सरकारों द्वारा की गयी है और न ही ऐसे क्षेत्रों की कोई पहचान करने की कोई कोशिश की गयी है। यह खुल्लमखुल्ला संविधान काउल्लंघन है।

भाग 9अ; अनुच्छेद 243 जेड-डी में एक जिला नियोजन समिति का प्रावधान है। जिला नियोजन समिति के अस्सी फीसदी सदस्य जिले के भीतर जितनी ग्राम पंचायतें और नगर निकाय होंगे, उनके निर्वाचित सदस्यों द्वारा अपने ही बीच से चुने जाएंगे। यह गठन इस प्रकार होगा कि जिले के भीतर ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के जो अनुपात है, वही अनुपात जिला नियोजन समिति के भीतर भी ग्राम पंचायतों और नगर निकायों के प्रतिनिधियों का रखा जाएगा। मान लिया जिला नियोजन समिति बीस सदस्यों की होती है और मान लीजिये किसी जनपद में 70 प्रतिशत क्षेत्र ग्रामीण और 30 प्रतिशत नगरीय है। तो उस जनपद की जिला नियोजन समिति के 16 सदस्य जिले के भीतर की पंचायतों के सदस्य ही होंगे, जिनका चुनाव ये सारे सदस्य आपस में करेंगे। शेष 4 सदस्य राज्य सरकार द्वारा बनाये गये कानून के अंतर्गत विधायक, सांसद, जिलाधिकारी या अन्य अधिकारी हो सकते हैं। इन 16 सदस्यों में भी जिले की ग्रामीण और नगरीय आबादी के अनुपात से 11 सदस्य ग्राम पंचायतें, क्षेत्र पंचायतों और जिलापंचायत से और 5 सदस्य नगर निकायों के होंगे।

इस जिला नियोजन समिति की परिकल्पना केंद्रीय या राज्य योजना आयोग की तर्ज पर की गयी है। यह एक तरह से पूरे राज्य सचिवालय को विकेंद्रित कर जिला स्तर पर ले आने की कवायद है। समिति के जिम्मे यह काम है कि वह जिले के समग्र वार्षिक योजना बनाकर उसे राज्य सरकार के पास भेजेगी। जिला नियोजन समिति ही जिले के भीतर मौजूद पानी तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों का विभिन्न पंचायतों के बीच बंटवारा करेगी और जिले के समन्वित विकास का ढांचा तैयार करेगी। इन ग्रामीण एवं शहरी निकायों के लिए संसाधनों की कमी न पड़े, इसके लिए अनुच्छेद 243 आई; भाग 9द्ध में यह व्यवस्था की गयी है कि हर राज्य अपना एक वित्त आयोग गठन करेगा जो यह तय करेगा कि राज्य सरकार को प्राप्त होने वाले राजस्व का कितना हिस्सा ग्राम पंचायतों को दिया जाए।

यह उम्मीद करना निराधार नहीं है कि विभागों के छोटे हो जाने और एकदम सामने आ जाने से भ्रष्टाचार लगभग समाप्त हो सकता हैं भ्रष्टाचार तभी फलता-फूलता है जब चीज़ें केंद्रीयकृत होती हैं और जनता से जुड़े सारे निर्णय और क्रियान्वयन जनता से छिपा कर किये जाते हैं। जब ग्राम सभा में गांव के सब लोग मिलकर यह तय करेंगे कि उसे सालभर का जो एकमुश्त बजट राज्य वित्त आयोग की संस्तुति पर राज्य सरकार से मिला है, उसमें से कितना स्कूल के लिए खर्च करना है, कितना अस्पताल के लिए, कितना सड़क के लिए और कितना बिजली के लिए और ग्राम सभा के निर्देश पर जब पंचायत यह काम करवाएगी तो चोरी-चखारी के लिए गुंजाइश ही कितनी रह जाएगी? अब तक की व्यवस्था में ग्राम प्रधान विकास के पैसे का इस्तेमाल इस तरह करता है कि उसके ऊपर के अधिकारी संतुष्ट हो जाएं बस। जनता का कोई नियंत्रण उस पर होता नहीं। अब उसे जनता को संतुष्ट करना होगा और जनता भला टूटे भवनों और अधूरी पड़ी सड़कों से क्यों संतुष्ट होने लगी? डॉक्टर या मास्टर जब ग्राम सभा से नियुक्ति और वेतन लेंगे तो फिर वे कैसे गांव से भागते फिर सकेंगे? राजीव गांधी ने बतौर प्रधानमंत्री यह स्वीकार किया था कि विकास के लिए जो एक रुपया दिल्ली से चलता है, वह गांव तक पहुंचते-पहुंचते 15 पैसे रह जाता है तो इसका अर्थ यही था कि दिल्ली से गांव तक पसरी हुई नौकरशाही की अनेकों परतें नेताओं और माफियाओं की मदद से इस पैसे को सोख लेती हैं। जब ये परतें खत्म कर दी जाएंगी और समूचा एक रुपया सीधे गांव तक पहुंचा दिया जाएगा तो दुरुपयोग होने की संभावना ही कितनी रह जाएगी? यह व्यवस्था पंचायत कानून में हो कि ग्राम सभा अपनी जरूरत और मर्जी के अनुसार सरकार द्वारा दिये गये पैसे का उपयोग करे और उसका पूरा हिसाब-किताब राज्य सरकार को दे दे। नेता और सरकारी अधिकारी यह तो न कहें कि नहीं जी, स्कूल की मरम्मत मत करो, पानी की टंकी ही बनवाओ। सड़क मत बनवाओ, खड़ंजे ही लगवाओ। गांव की जरूरतों को राजधानियों से देख लेने वाले वे कौन होते हैं?

पंचायतों को सिर्फ तथाकथित विकास से जोड़ना अधूरी सोच है। खालिस विकास, जिसका रिश्ता सिर्फ स्कूल-अस्पताल के भवनों, सड़कों आदि तथा इनसे जुड़े पैसे को माना जाता है, को अत्याधिक महत्व देने से ही दिल्ली से गांव तक सिर्फ दलालों की फौज खड़ी हो रही है। ग्राम समाज को समग्र रूप से शक्तिशाली और आत्मनिर्भर होना चाहिए। तथाकथित विकास से बाहर भी पंचायत अपने निर्णय स्वयं ले। वह तय करे कि उसकी सीमा के भीतर प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किस तरह हो। शराब उसके अधिकार क्षेत्रों में बेची जाए या नहीं। उसकी ज़मीन बांध, वन्य जीव विहार या किसी बड़े उद्योग के लिए दी जाए या नहीं और यदि दी जाए तो उसमें उसका नियंत्रण

और हिस्सा कितना हो। बाहर से कोई स्वैच्छिक संस्था आकर उसके क्षेत्र में कार्य करे या नहीं यह तय करने के अधिकार ग्राम समाज को मिलने चाहिए। 1996 के 'पंचायत उपबंध; अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तारद्ध अधिनियम' में ऐसी व्यवस्था है। **केरल के प्लाचिमाडा गांव का ज़िक्र यहां किया जा सकता है। जब वहां के ग्रामीणों ने पाया कि कोकाकोला के प्लांट से उनका भूगर्भीय पानी कम पड़ गया है और प्रदूषित भी होने लगा है तो पंचायत ने अपने अधिकार का प्रयोग कर प्लांट को बंद करवा दिया।**

गांव के स्वायत्त ढांचे के भीतर ग्राम समाज की अपनी न्याय व्यवस्था लगातार चल रही है। हालांकि औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार के पदचिन्हों पर चल रही आजाद भारत की सरकार द्वारा पंचायती न्याय को कोई मान्यता नहीं दी गयी है, लेकिन बावजूद इसके अनेक स्थानों पर वह अब भी प्रभावी रूप में कार्य करती है। ग्रामीण समाज पंचायत के निर्णयों को सिर आंखों पर रखता हैं यह ठीक है कि अनेक बार गांव की पंचायतों से भयावह फैसलों की खबरें मिलती हैं। कभी पंचायत द्वारा किशोर प्रेमी-प्रेमिका को फांसी देने की खबर आती है तो कभी किसी विधवा औरत को डायन होने के शक में जिंदा गाड़ देने की। लेकिन इसके पीछे मीडिया का दुराग्रह ज्यादा होता है 'पंचायतें तो हर रोज़ हज़ारों फैसलें करती हैं, तो जो प्रेमचंद के 'पंच परमेश्वर' जैसे 'दूध का दूध, पानी का पानी' वाले फैसले होते हैं, उन्हें अखबारों में जगह क्यों नहीं मिलती? गलत-सलत फैसले अगर होते भी हैं तो उसके पीछे यह कारण है कि पढ़े-लिखे प्रगतिशील लोग या तो गांवों से पलायन कर गये हैं या फिर गांव की गतिविधियों से अलग-थलग रहते हैं। ऐसे में दकियानूसी तत्वों का पंचायतों में वर्चस्व हो जाता है। यह प्रवृत्ति तो राजनीति में भी दिखायी पड़ती है। ईमानदार आदमी राजनीति में रुचि नहीं लेता ओर अपराधी तथा सांप्रदायिक तत्व राजनीति में सबसे ताकतवर बन कर उभरते हैं जब गांव समाज के भीतर की प्रगतिशील ताकतें ज़मीनी संघर्ष और सच्चाइयों से रू-ब-रू अपनी ज़िम्मेदारी स्वीकार करके दकियानूसी प्रवृत्तियों के खिलाफ खड़ी होंगी, तभी ग्राम गणराज्य प्रभावी हो पएगा। एक जीवंत समाज में मंथन की प्रक्रिया निरंतर जारी रहनी चाहिए। पंचायतों पर दकियानूसी होने का आरोप इसलिए भी बहुत चिंताजनक नहीं है, क्योंकि हमारी न्यायपालिका ही कितनी बेहतर स्थिति में है? सारे वकील और न्यायाधीश बहुपठित भी होते हैं और प्रशिक्षित भी। फिर भी अदालतें प्रायः गलत फैसले देती क्यों दिखायी देती हैं? तब यदि सामान्य विवेक और नैसर्गिक न्याय के आधार पर कार्य करने वाली पंचायतों के लाखों फैसलों में दो-चार गलत आ जाएं तो क्या उन्हें सिरे से खारिज कर देना चाहिए? ग्राम गणराज्य की सफलता के लिए पंचायतों के फैसलों को कानूनी मान्यता देना बहुत जरूरी है। तभी सामान्य व्यक्ति को मालूम होगा कि पंचायत केवल विकास के पैसे का तीन-तेरह करने वाली संस्था नहीं है, उसके घर को, खेत की, ज़िंदगी की समस्याओं का समाधान भी वह करती है तो पंचायत में उसका विश्वास भी बढ़ेगा और भागीदारी भी। पंचायतों को ऐसे अधिकार देने से अदालतों में मुकदमों की भीड़ भी कम होगी।

पंचायतों को इस तरह शक्तिशाली बनाने से समाज में एक क्रांतिकारी बदलाव आ सकता है। लेकिन यह दर्जा हासिल करने के रास्ते में मुख्य अड़चन मानसिक गुलामी की है। **1857 के स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेजों ने दावाग्नि की तरह विद्रोह को फैलते देख तो उन्हें ग्राम पंचायतों की असली ताकतों का अंदाज़ा हुआ। भविष्य में उनका शासन निरापद रहे, इसके लिए उन्होंने गांवों के ढांचे को पूरी तरह तोड़ कर उसे एक नौकरशाही पर निर्भर बना दिया। गांव में रहने वाले आदमी के लिए बात-बात पर शहर में रह रहे अधिकारी के पास दौड़ना जरूरी हो गया।** ऐसे नियम बना दिये कि जन्म और मृत्यु भी सरकार की निगरानी में रहे। जन्म का प्रमाणपत्र तहसीलदार देगा। क्यों? वह बच्चे की नाल कटते समय वहां मौजूद था? यदि गांव के पांच बड़े-बूढ़े लिख कर दे दें कि हां फलां बच्चा फलां तारीख को पैदा हुआ था तो उसे प्रमाणपत्र क्यों नहीं माना जा सकता? कोई सांप के काटे से मर गया तो भले ही समाज के सारे व्यक्ति गावाही दें कि यह कोई संदिग्ध मृत्यु नहीं है, यह आदमी सांप के काटे से ही मरा है, छुट्टी तभी मिलेगी जब सरकारी डॉक्टर पोस्टमार्टम करेगा। अन्यथा पुलिस रगड़ती रहगी और अपना उल्लू सीधा करती रहेगी। यह पुलिस इस तरह की बनायी गयी है कि उसकी क्षमता कानून व्यवस्था बनाये रखने में कम जनता को परेशान करने में ज्यादा लगती हैं एक थाने में एक रात में जितने नाजायज काम होते होंगे, उतना एक ग्राम पंचायत लाख कोशिश कर ले, पूरे एक साल में नहीं कर सकेगी। लेकिन अपनी मानसिक गुलामी के चलते हम अपने साधारण विवाद आपस मे ंन सुलझा कर थाने को ही दौड़ते हैं। सरकारी अधिकारी, वह कितना ही अनुभवहीन, भ्रष्ट और अक्षम हो, के सामने गिड़गिड़ाना हमारी आदम में शुमार हो गया हैं अपने समाज के विवेकशील, अनुभवी और ईमानदार लोगों में हमारी तनिक भी आस्था नहीं रही है। ऐसे में स्वशासन की अवधारणा हमारे लिए पराई हो गयी हैं बाहर का आदमी हम पर शाासन करे यह हमें शिरोधार्य होगा। अपने बीच के योग्य लोगों को हम अपनी व्यवस्था करने की ज़िम्मेदारी दें, यह हम कतई बर्दाश्त नहीं कर सकते। अंग्रेजों द्वारा औपनिवेशिक राज्य के लिए बनाये गये विधि-विधानों को स्वशासी राष्ट्र में ज्यों का त्यों लागू कर देने से हमारी मानसिकता वैसी ही बन गयी है।

ग्राम गणराज्य की सफलता के लिए इस मानसिक गुलामी से हमें यत्नपूर्वक मुक्ति पाना जरूरी होगा। हालांकि इसके बादभी राजनेता, नौकरशाह और माफिया का गठजोड़ नहीं चाहेगे कि सत्ता का विकेंद्रीकरण हो और पंचायतों को अधिक अधिकार दिये जाएं। यह गठजोड़ तो सुई की नोंक के बराबर भी अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं होगा। आम आदमी के पास वोट देने की ताकत भले ही हो, असली ताकत फिलहाल इस गठजोड़ के ही पास है। आजादी के बाद यह बहुत मजबूत हुआ है।

पंचायतों को ठोकर लगाने के लिए पिछले सालों में लोकतंत्र की मूल भावना पर भी चोट की गयी हैं अब बतायें तो कि सांसद निधि और विधायक निधि का क्या अर्थ है? जनप्रतिनिधियों का काम ठेकेदारी करना है या कानून बनाना? उत्तरांचल का ही उदाहरण लें। यहां के विधायकों को साल में 200 दिन विधानसभा में बैठकर अपने कानून बनाने थे। क्योंकि उत्तर प्रदेश के कानूनों की यहां जरूरत नहीं हैं लेकिन साल में बीस दिन भी विधानसभा नहीं चल पातीं इन बीस दिनों में भी ज्यादातर झगड़े-फसाद में वक्त ज़ाया होता है। नौकरशाही अपनी मनमानी में कानूनों का मसौदा बना लेती है और विधायक जल्दबाजी में बगैर बहस किये एक दिन में दर्जनों विधेयक पारित कर देते हैं। किसी को मालूम नहीं पड़ रहा है कि कौन-कौन से नये कानून बने उत्तरांचल में। हां, विधायक विकास कार्य में अवश्य जुटे हैं। जनप्रतिनिधियों की ही तरह नौकरशाह भी पंचायत का हक मार रहे हैं अब जिलाधिकारी को विवेकाधीन कोष, स्वरोजगार योजना, जवाहर रोजगार योजना आदि का अधिकार देने का क्या मतलब है? वह एक नौकरशाह है। उसे जनता द्वारा चुने गये जिला पंचायत के सचिव के रूप में काम करना चाहिए। जिला पंचायत जो कुछ तय करे, जिलाधिकारी की जिम्मेदारी होनी चाहिए कि उसे कार्यान्वित करे। लेकिन अपनी गुलाम मानसिकता के चलते हम क्या सपने में सोच सकते हैं कि जिलाधिकारी जिला पंचायत के नीचे होगा? लेकिन आजाद भारत में भी वह मालिक हैं जनप्रतिनिधि की उसकी सामने कोई हैसियत नहीं।

संविधान के जिस 73वें व 74वें संशोधन का जिक्र यहां किया जा रहा है, उसमें ग्राम ओर नगर पंचायतों की हैसियत केंद्र और राज्यों के बराबर हो गयी हैं अब संविधान के भाग पांच में भारतीय संघ का जिक्रहै, भाग छः में राज्यों का जिक्र है, भाग आठ में केंद्रशासित प्रदेशों का जिक्र है, भाग नौ में ग्राम पंचायतों का जिक्र है और भाग नौ-अ में नगर पंचायतों का जिक्र है। सन् 1993 से पहले यह स्थिति नहीं थी। न जाने क्यों हमारे इतने विद्वान संविधान निर्माता संविधान में पंचायतों के बारे में विस्तार से जिक्र करने में चूक गये। कहा जाता है कि अन्य मुद्दों पर बहस करने में इतना सारा वक्त लग गया कि पंचायतों के बारे में बातचीत करने के लिए ज्यादा वक्त ही नहीं मिला। सिर्फ भाग चार में 'नीति निर्देशक सिद्धांतों' के अंतर्गत अनुच्छेद 40 में सिर्फ चार पंक्तियों में पंचायतों को निपटा दिया गया। यह गलती 1992 में तब ठीक की गयी, संविधान में 73वां तथा 74वां संशोधन कर भाग 9 और 9अ के रूप में ग्राम और नगर निकायों को उनका उचित स्थान दिया गया। अब चूंकि पंचायतों के मजबूत होने से नाकरशाहों की ताकत कमज़ोर पड़ रही थी, अतः वे मंत्रियों-राजनेताओं को बेवकूफ बनाते रहे और पंचायती राज की बात सिर्फ संविधान के पन्नों में ही सिमटी रह गयी।

उत्तरांचल का पंचायती राज कानून बनाने की कवायद बहुत जोर-शोर से हुई, बहुत सी स्वयंसेवी संस्थायें भी इस कसरत में शिरकत कर रही हैं, लेकिन इस बात को सारे लोग छिपा रहे हैं कि 1992 में संविधान का 73वां तथा 74वां संशोधन पारित होने के उपरांत वास्तविक शासन तो ग्राम और नगर पंचायतों के हाथ में होना चाहिए। आई.ए.एस. पी.सी.एस. तथा अन्य निचले दर्जे के नौकरशाह तो आपके अधीन होने चाहिए! सच तो यह है कि उत्तरांचल सरकार राज्य बनने से पहले गठित पंचायतों का कार्यकाल समाप्त हो जाने के बाद भी पंचायत चुनाव कराने में टालमटोल कर रही थी। वह तो लोक स्वातंत्रय संगठन; पी.यू.सी.एल. की उत्तराखंउ इकाई ने अक्टूबर 2002 में उत्तरांचल उच्च न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर की कि पंचायतों का चुनाव न करवा कर इस सरकार ने प्रदेश में सांवैधानिक संकट पैदा कर दिया है, अतः इस सरकार को भंग कर देना चाहिए। घबरायी हुई सरकार ने आनन-फानन में पंचायत चुनाव करवा दिये। लेकिन इसके बावजूद निर्वाचित जनप्रतिनिधियों को वे सारे अधिकार नहीं दिये, जिनका जिक्र संविधान की 11वीं तथा 12वीं अनुसूची में है। जबकि 73वां तथा 74वां संविधान संशोधन लागू होने के बाद अस्तित्व में आए उत्तरांचल, झारखंड तथा छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों के लिए तो यह संवैधानिक बाध्यता थी कि उनका काम काज इन संशोधनों के अनुरूप चले।

स्वशासन और ग्राम गणराज्य की परिकल्पना आसानी से साकार नहीं होगी। कोई भी सरकार उसे तश्तरी पर परोस कर जनता के सामने नहीं रखेगी। इसके लिए जनता को बहुत जूझना होगा। यह लड़ाई अपने गुलामी के संस्कारों से भी होगी और व्यवस्था के निहित स्वार्थों से भी। अस्पष्ट नीयत और आधे-अधूरे मन से लाई गई एक नीति ने उत्तरांचल के प्राथमिक शिक्षकों को आंदोलन के लिए सड़क पर खड़ा कर दिया। क्या शिकायत है मास्टरों को? यह कि अब उनकी गैरहाजिरी ग्राम प्रधान की नजरों से छिपी नहीं रहेगी? बहाना उन्होंने बनाया कि पंचायत के लोग योग्य नहीं हैं। पंचायत में लोग गलत हैं तो विधानसभा और संसद में जाने वालों को ही पाक-साफ कैसे कहा जा सकता है? तो क्या हम लोकतंत्र खत्म कर तानाशाही लगाने की मांग करने लगें? नहीं, हम लोकतांत्रिक प्रणाली को ठीक कर जनप्रतिनिधियों को ज्यादा ताकतवर बनायें।

जनता की ज़िंदगी में गुणात्मक परिवर्तन लाने के लिए फिलहाल ग्राम गणराज्य के सिवा कोई रास्ता नहीं है।

साभार इतिहास बोध

***isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067
टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,
ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए